भगवान रामकृष्ण
धर्म
तथा संघ

स्वामी विवेकानन्द
स्वामी शारदानन्द
स्वामी ब्रह्मानन्द
स्वामी शिवानन्द

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, म. प्र.

प्रकाशक—

स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला

पुष्प १८ वाँ

मुद्रक—

रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,
नवरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, स. नं. २, नागपुर।

मूल्य १४ आ.

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के अन्तरंग शिष्य स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के विभिन्न प्रबन्धों का संकलन है। इन लेखों को पढ़ने से पाठकों को भगवान श्रीरामकृष्ण देव के असामान्य व्यक्तित्व तथा उनकी अलौकिक जीवनी की यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकेगी; साथ ही उन्हें उनकी पुण्य धर्मवाणी एवं उनके जगद्विख्यात श्रीरामकृष्ण संघ के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान लाभ होगा।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों का अनेक दिशाओं में लाभ होगा, उन्हें भारतवर्ष की संस्कृति की अच्छी झलक मिलेगी तथा उनमें अनेकानेक सुन्दर सात्विक भावों एवं विचारों का पुनःस्मरण होगा।

नागपुर,
दि. १–७–१९५१

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

भगवान् श्रीरामकृष्ण

भगवान रामकृष्ण

जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण।

—श्रीरामकृष्ण

—कालवश नष्ट हुए इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित करके, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरण-स्वरूप अपने को प्रदर्शन कराते हुए लोक-हित के लिये श्री भगवान रामकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

१. हिन्दू धर्म और श्रीरामकृष्ण

(स्वामी विवेकानन्द)

शास्त्र शब्द से अनादि और अनन्त वेद का बोध होता है और धर्मशासन में वेद ही एक मात्र समर्थ है। अर्थात् धार्मिक व्यवस्था में जब कोई झगड़ा पड़ता है तब वेद ही के प्रमाण से वह निपटाया जाता है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु तभी तक जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें; अन्यथा नहीं।

'सत्य' के दो भेद हैं:—(१) जो मनुष्य की पञ्चेन्द्रियों से ग्रहण किया जाय, अथवा तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय; (२) जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं। और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं। अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसी की सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यही अतीन्द्रिय शक्ति जिस व्यक्ति में आविर्भूत या प्रकाशित हो उसका नाम ऋषि है और उस शक्ति के द्वारा वह जिस अलौकिक सत्य की प्राप्ति करे उसका नाम 'वेद' है।

यही ऋषित्व और वेद-द्रष्टृत्व लाभ करना यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक 'धर्म' केवल जबानी जमा-खर्च है और यही मानना पड़ेगा कि हमने धर्म-राज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी पैर नहीं रखा।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देशविशेष, कालविशेष अथवा पात्र-विशेष तक ही परिमित नहीं है।

प्राणिमात्र के धर्म की व्याख्या करने वाला एकमात्र 'वेद' है।

अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास, पुराण आदि तथा म्लेच्छादि देशों की धर्म-पुस्तकों में भी थोड़ा बहुत वर्तमान है, फिर भी अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह आर्य-जाति के बीच में प्रसिद्ध 'वेद' नामक चार भागों में विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार से सब से ऊँचे स्थान का अधिकारी है और वही वेद सम्पूर्ण संसार के पूजने योग्य और आर्य अथवा म्लेच्छ सब के धर्म-ग्रन्थों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति की उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसमें जो लौकिक, अर्थवाद वा ऐतिह्य (इतिहास सम्बन्धी) नहीं है वही अंश 'वेद' है।

यही वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त है। कर्मकाण्ड की क्रिया और फल माया-अधिकृत जगत् में देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुआ, होता है और होता रहेगा। सामाजिक रीति-नीति भी इसी कर्मकाण्ड के ऊपर निर्भर है। इसलिए समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता है और होगा। लोकाचार भी यदि वह सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो तो मान्य है। सत्शास्त्र-निन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

ज्ञानकाण्ड वा वेदान्त भाग ही निष्काम कर्म, योग, भक्ति और

ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला और मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित होकर देश, काल और पात्र के बाधा-विरोध की परवाह न करता हुआ, सब लोगों में, सब देशों में और सब समयों में धर्म का एक मात्र उपदेशक होता है।

मनु-स्मृति आदि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश, काल, पात्र के भेद से विचारपूर्वक समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्त्वों का प्रकाश कर अवतारादि 'महान् चरित्र वर्णन' करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है; और अनन्त भावमय भगवान के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसी भाव का उपदेश दिया है।

किन्तु कालवश सदाचार-भ्रष्ट, वैराग्य-हीन, एक मात्र लोकाचार में लिप्त और क्षीण-बुद्धि आर्य सन्तान ने भावविशेषों की विशेष शिक्षा के लिये मानो प्रतियोगी की तरह स्थित और अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिये बहु विस्तारित भाषा में स्थूल भाव से वैदान्तिक सूक्ष्म तत्त्वों के प्रचार करनेवाले इन पुराणादि द्वारा वर्णित मर्मों के भी ग्रहण में असमर्थ होकर अनन्त भावों के समूह अखण्ड सनातन धर्म को अनेक खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की वृद्धि करके उसमें परस्पर की आहुति देने की बराबर चेष्टा करते हुए इस धर्म-भूमि भारतवर्ष को लगभग नर्क-भूमि में बदल दिया है।

आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और निरन्तर विवाद का मूल, आपात-प्रतीयमान अनेक भागों में विभक्त, सर्वथा प्रतियोगी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरा, स्वदेशियों के भ्रम का स्थान और विदेशियों की घृणा का आस्पद हिन्दू धर्म नामक युगयुगान्तर-व्यापी

विखण्डित और देशकाल के योग से इधर उधर बिखरे हुए धर्मखण्डों के समूह में यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिये और कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित करके, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरण-स्वरूप अपने को प्रदर्शन कराते हुए लोकहित के लिये भगवान श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।

अनादि-वर्तमान, सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार से प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिये और इस प्रकार से शास्त्र प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनः स्थापन और पुनः प्रचार होगा, इसलिये वेदमूर्ति भगवान ने इस रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षकत्व की रक्षा के लिये भगवान बारंबार शरीर धारण करते हैं, यह स्मृत्यादि प्रसिद्ध है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी का जलसमूह अत्यन्त वेगवान होता है; फिर उससे उठी हुई तरंग अत्यन्त फैली हुई होती है। इसी तरह प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्री भगवान के कारुणिक नियन्तृत्व में नीरोग होकर पूर्व की अपेक्षा अधिकतर यशस्वी और वीर्यवान होता है—यह इतिहासों से सिद्ध है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को विशेषतः प्रकाशित करता है; और सर्वभूत-अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में समधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार बार यह भारतभूमि मूर्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्ता हुई है और बारंबार भारत के भगवान ने अपने अवतार द्वारा इसे पुनर्जीवित किया है। किन्तु वर्तमान विषाद-रात्रि की तरह-जिसके बीतने में अब घड़ी दो घड़ी की ही देर रह गई है, किसी भी अमावस्या की रात्रि ने इस पुण्य भूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गम्भीरता के सम्मुख पूर्व के सब पतन गौ के खुर-चिह्न में भरे जल के समान हैं। और इसीलिये इस प्रबोधन के प्रकाश के सम्मुख पूर्व के सब पुनर्बोधनों का प्रकाश सूर्य के सम्मुख तारागण के प्रकाश के समान है। इस पुनरुत्थान के महावीर्य के सम्मुख प्राचीन काल का बार बार लब्ध वीर्य बालकों की लीला-सा जान पड़ेगा।

पतनावस्था में सनातन धर्म के समस्त भाव अधिकारी के अभाव से छिन्न भिन्न होकर छोटे छोटे सम्प्रदायों के रूप में रक्षित रहते थे, और उनके अनेक अंश लुप्त भी हो जाते थे।

इस नव उत्थान में नवीन बल से बली मानव-सन्तान, टूटी और बिखरी हुई आत्मविद्या को एकत्रित कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी और साथ ही लुप्त विद्या के पुनः आविष्कार करने में भी। इसके प्रथम निदर्शन-स्वरूप परम कारुणिक श्री भगवान सर्व युगों की अपेक्षा समधिक पूर्ण, सर्व-भाव-समन्वित और सर्व विद्याओं से युक्त युगावतार के रूप में प्रकट हुए।

इसी इस महायुग के प्रत्यूष काल में सब भावों का मिलन होता है और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च नाद से जन-समाज में घोषित होता है।

यह नव युग-धर्म समस्त जगत् के, विशेषत: भारतवर्ष के कल्याण का कारण है और इस नव युग-धर्म के प्रवर्तक श्री भगवान पूर्व के युग-धर्म-प्रवर्तकों के पुन:संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव! यही विश्वास करो, इसकी धारणा करो।

मरा हुआ व्यक्ति फिर नहीं जीता। बीती हुई रात फिर नहीं आती। नदी की गई बाढ़ फिर नहीं लौटती। जीवात्मा दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मनुष्यो! हम तुम लोगों को मुर्दे की पूजा छोड़कर जीवित की पूजा के लिये पुकारते हैं; हम तुम्हें गत की अनुशोचना त्यागकर प्रस्तुत प्रयत्न के लिये बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में वृथा श्रम न करके, अभी बनाये हुए प्रशस्त और निकट के पथ पर चलने को बुलाते हैं; बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के चैतन्य होते ही दिग्दिगन्त-व्यापिनी प्रतिध्वनि जागरित हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं, यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

---

२. श्रीरामकृष्ण देव की मानव लीला

(स्वामी शारदानन्द)

भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के विषय में अनेक लोग बहुत तरह की बातें कहते हैं। यहाँ तक कि बहुतों की श्रद्धा, विश्वास तथा आस्था का कारण ढूँढने पर उनकी अमानुषिक योग-विभूति ही मूल में दिखाई देती है। तुम क्यों उन्हें मानते हो?—इस प्रश्न के उत्तर में लोग प्राय: यही कहते हैं कि परमहंस देव गङ्गा के किनारे, दक्षिणेश्वर के मन्दिर में, बैठे-बैठे बहुत दूर पर घटने वाली घटनाओं को देख लेते थे; केवल छूने या हाथ फेरने ही से दुरारोग्य व्याधियों से कभी कभी लोगों को मुक्त कर दिया करते थे; देवताओं के साथ उनकी सदा ही बातचीत हुआ करती थी; और उनकी वाणी ऐसी अचूक थी कि उनके श्रीमुख से यदि कभी कोई असम्भव बात भी निकल जाती थी, तो बाह्य प्रकृति की घटनावली भी उसी के अनुसार हो जाती थी। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि एक समय फाँसी की सजा पाया हुआ व्यक्ति भी उनकी तनिक दया या आशीर्वाद से मौत के मुँह से बच गया, और फिर संसार में उसने यथेष्ट सम्मान भी प्राप्त किया अथवा—लाल फूलवाले पौधे में सफेद फूल भी उनकी आज्ञा से फूले हैं।

लोग यह भी कहते हैं कि वे मन की बात जान जाते थे। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि प्रत्येक मानव-शरीर के स्थूल आवरण को भेद कर उसके मन के भीतर के विचारों, चिन्ताओं—यहाँ तक कि उसकी गठन और प्रवृत्तियों तक पहुँच सकती थी, और उनके कोमल कर-

स्पर्श मात्र से चञ्चल-चित्त भक्त की आँखों के सम्मुख इष्टमूर्ति आविर्भूत हो जाती थी, और किसी-किसी को तो गम्भीर ध्यान तथा निर्विकल्प समाधि तक प्राप्त हो जाती थी !

कुछ लोग कहते हैं—"क्यों उन्हें मानता हूँ, यह नहीं जानता, परन्तु उनमें ज्ञान और प्रेम का एक ऐसा अपूर्व, और साथ ही साथ सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श मिलता है, जैसा किसी मनुष्य की तो कौन कहे, वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित जगत्पूज्य आदर्श महापुरुषों में भी नहीं पाया जाता। ये महापुरुष मेरी आँखों में उनकी अपेक्षा हीनप्रभ दिखाई देते हैं। यह मेरे मन की भ्रान्ति है अथवा अन्य कुछ, मैं कह नहीं सकता; परन्तु मेरी आँखें उसी उज्ज्वल प्रभा में चकाचौंध हो गई हैं, और मन सदा के लिये उनके प्रेम में निमग्न हो गया है—लौटा लेने की चेष्टा करने पर भी वह नहीं लौटता; समझाने-बुझाने पर भी वह नहीं मानता; ज्ञान, तर्क और युक्ति—सब कुछ न जाने कहाँ विलीन हो गये हैं। बस, मैं इतना ही कह सकता हूँ,—

"दास हूँ तुम्हारा जन्म जन्म का मैं,
गति मैं तुम्हारी नहीं जानता हूँ—
अपनी गति?—वह भी नहीं,
कौन चाहता भी है जानने को?
भुक्ति-मुक्ति-भक्ति आदि जितने हैं
जप-तप-साधन-भजन सब
आज्ञा से तुम्हारी ही दूर मैंने कर दिये हैं,

एक मात्र आशा पहचान की है लगी हुई,
इससे भी करो पार! ”

—स्वामी विवेकानन्द

यदि शेषोक्त थोड़े से लोगों की बात छोड़ दी जाय, तो यही देखने में आता है कि उनकी बाहरी स्थूल विभूतियों अथवा सूक्ष्म मानसिक विभूतियों के कारण ही लोग उन पर भक्ति, विश्वास और भरोसा करते हैं। स्थूल दृष्टि वाला आदमी समझता है कि उन्हें मानने से वह भी रोग आदि से छुटकारा पा सकता है, अथवा विपत्तियों के आक्रमण से बच सकता है। यद्यपि वह इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार न करे, परन्तु यह देखने में प्राय: देर नहीं लगती कि उसके मन के भीतर ही भीतर ऐसी स्वार्थपरता का भाव अवश्य प्रवाहित होता रहता है।

दूसरी श्रेणी वाले लोग, जो उपर्युक्त प्रकार के लोगों की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म दृष्टि वाले हैं, वे उनकी कृपा इसलिये चाहते हैं कि वे भी दूर-दर्शनादि विभूतियों को प्राप्त कर लें तथा उनके नित्यलीला-सहचर बनकर गोलोकादि स्थानों में निवास करें। और जो उनकी भी अपेक्षा उच्च विचारवाले हैं, इसलिये उन्हें मानते हैं कि यदि समाधि की प्राप्ति हो जाएगी तो वे आवागमन से मुक्त हो जायँगे। अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही ऐसे विश्वासों की जड़ में मौजूद है—यह बात सरलता से समझ में आ सकती है।* * *

सकाम भक्ति—अर्थात् अपने किसी अभाव की पूर्ति के लिये की जाने वाली भक्ति—भक्त को सत्य के उच्च सोपान पर चढ़ने नहीं देती। स्वार्थपरता निरन्तर भय ही प्रसव करती है, और वह भय मानव-

हृदय को दुर्बल से दुर्बल कर डालता है। स्वार्थ-सिद्धि मनुष्य के मन में अहंकार और कभी कभी आलस्य की वृद्धि भी कर देती है; फलतः मनुष्य की आँखें बन्द हो जाती हैं, और वह यथार्थ सत्य को नहीं देख पाता। परमहंस देव इसी उद्देश से कि उनके भक्तों में यह दोष न आने पाये, इस बात पर विशेष ध्यान रखते थे। ध्यान आदि के अभ्यास द्वारा किसी भक्त में दूर-दर्शन तथा किसी प्रकार की मानसिक शक्ति का यदि नया विकास होता था तो कहीं उससे उत्पन्न अहंकार के कारण भगवान-प्राप्ति का उद्देश्य वह भूल न जाय, इसलिये परमहंस देव उसे कुछ दिनों तक ध्यान आदि का अभ्यास नहीं करने देते थे। यह बात मैंने कितनी ही बार अपनी आँखों स्वयं देखी है। 'इस प्रकार की विभूतियों को प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का चरम उद्देश्य नहीं है,' यह बात कहते मैंने उन्हें कई बार सुना है। परन्तु दुर्बल-हृदय मनुष्य अपनी हानि-लाभ का पहले बिना विचार किये कुछ करने या किसी को मानने को तैयार नहीं होता और त्याग की ज्वलन्त मूर्ति श्रीरामकृष्ण देव के जीवन से त्याग की शिक्षा ग्रहण न कर अपनी भोगसिद्धि के लिये ही उनके महान् जीवन का आश्रय लेता है। उनका त्याग, उनकी अलौकिक तपस्या, उनका अदृष्टपूर्व सत्यानुराग, उनकी बाल-सुलभ सरलता और उनकी निर्भरता इत्यादि मानो भोग-सिद्धि के ही लिये थे — दुर्बल-हृदय मनुष्य यही समझता है। हम लोगों में मनुष्यता का अभाव ही ऐसी बुद्धि जाग्रत करता है, और इसीलिये श्रीरामकृष्ण देव की मानव-लीला की मीमांसा ही हमारे लिये अधिक कल्याणप्रद है। * * *

धर्मजगत् में जो महापुरुषगण अदृष्टपूर्व नये साँचे में ढले हुए

जीवन के नमूने दिखा जाते हैं, उन्हें ही दुनिया ईश्वरावतार समझती तथा पूजती है। अवतारी पुरुष दुनिया में नये मत और नये पथ का आविष्कार करते हैं। वे स्पर्श-मात्र से ही दूसरों में धर्म-शक्ति सञ्चारित कर देते हैं। उनकी दृष्टि कभी अनित्य जगत् के काम-काञ्चन के कोलाहल की ओर आकृष्ट नहीं होती। उनके जीवन को भली-भाँति देखने पर यही जान पड़ता है कि वे औरों को राह दिखाने के लिये ही जन्म ग्रहण करते हैं। अपना भोग-साधन, यहाँ तक कि स्वयं की मुक्ति भी उनके जीवन का उद्देश्य नहीं होता। उनके हृदय में दूसरों के दुःख के प्रति जो सहानुभूति और प्रगाढ़ प्रेम होता है, वही उन्हें, उनके दुःख-निवारण का पथ आविष्कृत करने में प्रेरित करता है।

जब तक मैंने श्रीरामकृष्ण की देव-कान्ति नहीं देखी थी, तब तक भगवान श्रीकृष्ण, बुद्धदेव, ईसा, शंकर, श्री चैतन्य इत्यादि अवतारी पुरुषों का जीवनवेद पाठ करने में मैं असमर्थ था। उनके जीवन की अलौकिक घटनावली ऐसी जान पड़ती थी, मानो उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने केवल अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिये ही इस तरह की बातें गढ़ रखी हों। अवतार के विषय में यही ख्याल होता था कि वह सभ्य जगत् के विश्वास की कक्षा के बाहर का कोई अद्भुत काल्पनिक प्राणीविशेष है। अथवा, ईश्वर का अवतार होना यदि सम्भव भी जान पड़ता तो यह विश्वास नहीं होता था कि उन अवतार-मूर्तियों में हम लोगों की ही तरह मनुष्य-भाव विद्यमान होता होगा। श्रीरामकृष्ण देव के पवित्र स्पर्श से ही मुझे अवतार की 'मानव-लीला' सम्बन्धी बातों का ज्ञान हुआ है। अवतारी पुरुषों

में देवत्व और मनुष्यत्व के अपूर्व सम्मिलन की बात शायद हम सब लोगों ने पुस्तकों में पढ़ी या देखी होगी, परन्तु श्रीरामकृष्ण देव को देखने के पहले यह बात कभी नहीं सोची थी कि मनुष्य में बालकपन और कठोर मनुष्यत्व दोनों एक ही साथ मिलकर रह सकते हैं। अधिकांश लोग कहा करते हैं, उनके पाँच वर्ष के बालक जैसे स्वभाव ने ही हमें आकृष्ट कर लिया था। अबोध बालक सब का प्यारा होता है, और सभी उसकी रक्षा के लिये स्वभावतः व्यस्त हो उठते हैं। अधिक उम्र के होने पर भी श्रीरामकृष्ण देव को देखकर सब के मन में ऐसे ही भाव का संचार होता था और वे उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। यद्यपि यह बात कुछ अंशों में सत्य है, तथापि मेरी धारणा यही है कि परमहंस देव के शुद्ध बालक-भाव से ही सर्वसाधारण मनुष्य आकृष्ट नहीं होते थे, वरन् दर्शकों के मन में हर्ष और प्रेम के साथ ही श्रद्धा और भक्ति का उदय होता देख कर यही कहना पड़ता है कि उनके कुसुम-कोमल बालक-भाव रूप आवरण के भीतर का वज्र-कठोर मनुष्यत्व ही सर्वसाधारण के आकर्षण का कारण था। भारत के श्रेष्ठ कवि, अयोध्यापति श्रीरामचन्द्र के लोकोत्तर चरित्र का वर्णन करते हुए कहते हैं —

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥"

— यही बात श्रीरामकृष्ण देव के विषय में भी कही जा सकती है।

श्रीरामकृष्ण देव का बालक-भाव एक अभिनव वस्तु है। असीम सरलता, अपार विश्वास और अशेष सत्यानुराग यद्यपि उस बालक के मन में सदैव प्रकाशित रहते थे, तथापि विषयी मनुष्य उसमें केवल

निर्बुद्धता और विषय-बुद्धि-राहित्य का ही परिचय पाता था। सब लोगों की बातों पर – विशेषकर धर्म-चिह्न–धारियों की बातों पर–उनका अटूट विश्वास था। उनके गाँव और देश में प्रचलित भावों ने उनके उस अद्भुत बालकपन को परिस्फुट करने में बहुत कुछ सहायता पहुँचाई थी। * * *

श्रीरामकृष्ण देव का जन्म हुगली जिले के कामारपुकुर नामक ग्राम में हुआ था। यहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके शिष्यों द्वारा चलाये गये वैष्णव धर्म का ही ज़ोर है। यहाँ के अधिवासी किसान मेहनत-मजदूरी करते समय या दिन-भर के काम-काज से छुट्टी पाकर रात को उन्हीं लोगों द्वारा रचित पद्यों को गाकर आनन्द में डूब जाते थे। सीधा-सादा पद्यमय विश्वास ही इस धर्म का मूल है; जीवन-संग्राम की हलचल और कोलाहल से दूर अवस्थित उस ग्राम के सदृश उस बालक का हृदय भी वैसे ही विश्वास और धर्म के विशेष अनुकूल था। परन्तु बालक रामकृष्ण का बालकपन यहाँ भी अद्भुत समझा जाता था। यदि उनके अद्भुत कार्यों से नहीं, तो उनके उद्देश्य की गम्भीरता और एकाग्रता को देखकर तो अवश्य ही लोग अवाक् हो जाते थे। "श्रीराम का नाम लेने से मनुष्य का मन निर्मल हो जाता है"—भजन गानेवालों या कथा बाँचनेवाले पण्डितों के मुँह से यह बात सुनकर यह बालक दु:खित चित्त से यह सोचने लगता था कि यदि वास्तव में ऐसी बात है, तो फिर स्वयं पण्डितजी को आज तक शौचादि की आवश्यकता क्यों पड़ती है? कभी केवल एक ही बार यात्रा (नाटक) या राम-लीला आदि देखकर यह बालक उस अभिनय का हर एक हाव-भाव आदि

सीख लेता, और अपनी उम्रवाले दूसरे लड़कों के साथ अमराई में उसका पुनः अभिनय किया करता था! —दूसरे गाँवों को जाने-वाले पथिक उसका अद्भुत अभिनय देख और सङ्गीत सुनकर मुग्ध हो जाते, और कोई कोई तो अपना काम-काज तक भूल जाते थे! देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गढ़ने, देवताओं के चित्र बनाने, दूसरों के हाव-भाव का अनुकरण करने, सङ्गीत, सकीर्तन तथा रामायण-महाभारत आदि की कथाएँ सुनकर उन्हें अपना लेने और प्राकृतिक सौन्दर्य का गम्भीर अनुभव करने में इस बालक को विशेष निपुणता प्राप्त हुई थी। उनके श्रीमुख से ही सुना है कि काली घटाओं से ढँके हुए आकाश में शुभ्र बक-पंक्ति को देखकर ही वे पहले पहल समाधिस्थ हुए थे; उनकी अवस्था उस समय केवल छः सात वर्ष की ही थी।

जिस समय जो भाव हृदय में आता था, उस समय उसी में लीन हो जाना इस बालक के मन की विशेषता थी। वहाँ के रहनेवाले लोग आज भी एक बनिये के घर के आँगन के विषय में कहते हैं कि एक दिन यहीं पर हर-पार्वती-संवाद नामक नाटक हो रहा था। सहसा शिवजी का अभिनय करने वाले अभिनेता के बीमार पड़ जाने के कारण लोगों ने रामकृष्ण से शिवजी का अभिनय करने के लिए कहा, और उन्हें शिवजी का भेष पहनाया। पर शिवजी का भेष धारण करते ही वे ऐसे तन्मय हो गये कि बड़ी देर तक बाह्य-ज्ञान-शून्य हो गये। इन सब घटनाओं से यह पूर्ण स्पष्ट होता है कि बाल-सुलभ चञ्चलता उनमें नाम मात्र की भी न थी। कोई भी बात देख या सुन कर यदि मन आकृष्ट होता, तो यह बालक तुरन्त उसे

अपना लेता और उसका फिर से अभिनय किये बिना शान्त नहीं होता था।

ग्रन्थादि पढ़े बिना ही केवल बाह्य जगत् के संघर्ष से ही इतनी कम आयु में इस बालक की सब इन्द्रियाँ समुचित रीति से परिस्फुट हो गई थीं। जो कुछ सत्य है, उसे प्रमाणों द्वारा समझ लूँगा, — जो कुछ सीखूँगा, उसे कार्य-रूप में परिणत करूँगा, — और असत्य के सिवाय किसी विषय को घृणा की दृष्टि से नहीं देखूँगा — यही इस बालक के मन का मूलमन्त्र था। अद्भुत मेधासम्पन्न बालक रामकृष्ण पढ़ने के लिये पाठशाला भेजा गया; पर पढ़ना-लिखना नाम मात्र भी नहीं हुआ। उसने सोचा, यह कठोर परिश्रम और अध्ययन, रात-रात भर जागने और टीकाकार द्वारा चूसी हुई हड्डियों को फिर चूसने से क्या लाभ? इससे किस वस्तु की प्राप्ति होगी? उसके मन ने इस अध्यवसाय के पूर्ण फलस्वरूप पाठशाला के गुरुजी की ओर उँगली दिखाकर कहा — तुम भी इन्हीं की तरह सरल शब्दों का कुटिल अर्थ निकालने में दक्षता प्राप्त करोगे, और इन्हीं की तरह बड़े आदमियों की खुशामद करके बिदाई-पूजा में रुपया कमाकर किसी तरह जीवन निर्वाह करोगे; तुम भी इन्हीं की तरह शास्त्रों में लिखी बातों का पठन-पाठन करोगे; पर चन्दन की लकड़ी ढोनेवाले गधे की भाँति शास्त्रोक्त सत्य-सुमनों की सुगन्धि की अनुभूति से जीवन भर वञ्चित ही रहोगे। विवेक ने कहा, — 'केवल दाल-रोटी दिला देने वाली इस विद्या की क्या आवश्यकता है? जिस विद्या द्वारा मानव-जीवन के गूढ़ रहस्य के सम्पूर्ण सत्य का अनुभव कर सको, उसी विद्या की प्राप्ति करो — उसी की खोज करो।' निदान राम-

कृष्ण ने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया और आनन्दमयी देवी-प्रतिमा के पूजन-अर्चन में तन-मन लगा दिया; पर यहाँ भी शान्ति कहाँ ? मन ने कहा, 'क्या सचमुच यही आनन्दमयी प्रतिमा जगज्जननी है, अथवा यह केवल पाषाण-मूर्ति है ? क्या यह वास्तव में भक्तिपूर्वक अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्प, फल-मूल आदि ग्रहण करती हैं ? क्या सचमुच मनुष्य इनका कृपा-कटाक्ष पाकर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो दिव्य दर्शन प्राप्त करता है ? —— अथवा, मानव-मन में बहुत दिनों के सञ्चित कुसंस्कारों ने केवल कोरी कल्पना द्वारा यह छाया-मयी मूर्ति गढ़ी है, और मनुष्य अनादि काल से स्वयं ही धोखा खाता चला आ रहा है ? इस समस्या को हल करने तथा इस शंका-समाधान के लिये प्राण व्याकुल हो उठे और बालक के मन में तीव्र वैराग्य ने धीरे धीरे आसन जमाना आरम्भ कर दिया — उसमें अंकुर निकल आये। बालक विवाह-बन्धन से जकड़ दिया गया; परन्तु उस प्रश्न की मीमांसा किये बिना सांसारिक सुखभोग करना उसके लिये असम्भव हो गया। मन तरह तरह के उपायों द्वारा निरन्तर रात-दिन, केवल उसी शंका के समाधान के लिये चिन्तित रहने लगा एवं विवाह, विषय-वासना, उपार्जन, सुख-भोग, यहाँ तक कि, विशेष आवश्यक आहार-विहार आदि भी, उस समय पूर्ण रूप से निरर्थक लगने लगे— इन बातों की केवल स्मृति-भर ही रह गई। कामारपुकुर गाँव में श्रीरामकृष्ण का जो बालक-भाव संसारी लोगों के हँसने का विषय हुआ था, वही दक्षिणेश्वर में आकर और भी उपेक्षणीय विषय हो गया —— पागलपन कहा जाने लगा। पर इस पागलपन में उद्देशहीनता या असम्बद्धता कहाँ है ? इन्द्रियातीत पदार्थ को प्रत्यक्ष करूँगा, स्पर्श

करूँगा, आस्वादन करूँगा — यह क्या एक विशेषता नहीं है? जिस सुदृढ़ धारणा शक्ति, अपराजित अध्यवसाय और उद्देश्य की स्थिरता और एकाग्रता ने कामारपुकुर के बालक रामकृष्ण के बालकपन को एक अद्भुत शोभा प्रदान की थी, उसी ने अब युवक रामकृष्ण के पागलपन में अद्भुत ओज भरकर उसे ऐसा बना दिया, जैसा पहले उसे किसी ने नहीं देखा था।

निरन्तर बारह वर्ष तक मन में आँधी चलती रही। अन्तःप्रकृति के उस भीषण संग्राम में अविश्वास, सन्देह आदि के प्रबल तरंगों की थपेड़ों से श्रीरामकृष्ण को अपनी जीवन-नौका के अस्तित्व में भी सन्देह होने लगा। परन्तु वह वीर-हृदय आसन्न मृत्यु के सामने भी कम्पित नहीं हुआ—उसने अपनी राह नहीं छोड़ी। भगवदनुराग और विश्वास के सहारे धीर और स्थिर भाव से वह आगे बढ़ता ही गया। सांसारिक काम-काञ्चनमय कोलाहल तथा लोग जिसे भला-बुरा, धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य कहते हैं — वह सब न मालूम कहाँ पड़ा रहा; भाव की उत्ताल तरंगें ज्वार की तरह प्रबल वेग से बह चलीं! उस कठोर तपस्या, उस अनन्त भावराशि के गम्भीर उच्छ्वास से श्रीरामकृष्ण के महाबलिष्ठ शरीर और मन न ढलकर नया आकार और नई श्री धारण की। इस प्रकार महासत्व, महाभाव तथा महाशक्ति के धारण और संचार के योग्य पूर्णावयव यन्त्र तैयार हो गया।

हे मनुष्यो! क्या तुम भी रामकृष्ण की इस अद्भुत कथा को हृदयङ्गम कर सकते हो? तुम्हारी स्थूल दृष्टि में परिणाम और संख्या के न्यूनाधिक्य पर ही पदार्थ का गुरुत्व या लघुत्व जान पड़ता है। परन्तु जो सूक्ष्म शक्ति स्वार्थ की गन्ध तक को नष्ट कर अहंकार को

समूल उखाड़ फेंकती है, जिसके बल से इच्छा करने पर भी शरीर या मन में स्वार्थपूर्ति की चेष्टा मात्र भी नहीं आने पाती उस शक्ति का परिचय तुम कहाँ पा सकते हो? जान बूझ कर या अनजान में कोई धातु-स्पर्श करते ही श्रीरामकृष्ण के हाथ आप ही आप अकड़ जाते, और वे उसे ग्रहण नहीं कर सकते थे। फल-फूल आदि मामूली वस्तुएँ भी यदि वे उसके मालिक की आज्ञा बिना, जानकर या अनजान में ले लेते, तो नित्य के चले हुये मार्ग को भी वे भूल जाते और उलटी राह चलकर भटकने लगते थे; गाँठ बाँधने पर जब तक वे उसे खोल न डालते थे तब तक आप ही आप उनका श्वास रुक जाता,— कितनी ही चेष्टा क्यों न करें, श्वास चलता ही न था। सुन्दर स्त्री को स्पर्श करते ही कछुए की तरह उनकी इन्द्रियाँ निश्चय ही सिकुड़ जाती थीं! ये सब शारीरिक विकार आभ्यन्तरिक पवित्रतम भावों की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं। जन्म-भर स्वार्थपूर्ण दृष्टि से भरे मानव-नेत्र उनको भला कैसे देख और जान सकते हैं? हम लोगों की अत्यन्त विशाल कल्पना भी क्या इस शुद्धतम भाव-राज्य में प्रवेश कर सकती है? 'भावों की चोरी' करना ही हम लोग जीवन-भर सीखते रहे हैं। सत्य को छिपाकर, यदि आँखों में धूल झोंककर, बड़े आदमी बनने का या नाम कमाने का मौका मिले, तो हममें से कितने लोग ऐसे हैं, जो उससे पीछे हटना चाहेंगे? इसके बाद साहस। एक बार चोट खाकर दस बार चोट करने की बात अथवा आग उगलने वाली तोप के सामने स्वार्थ-सिद्धि के लिये जाने और प्राण गँवाने की बात, यदि हम स्वयं नहीं कर सकते, तो कम से कम सुनकर तो अवश्य प्रसन्न होते हैं;

पर जिस साहस के साथ श्रीरामकृष्ण देव ने संसार के जिस अपरिचित, अज्ञात, अनुपलब्ध इन्द्रियातीत पदार्थ के लिये, पृथ्वी और स्वर्ग के भोग तथा सुखों और अपने शरीर तथा मन तक का त्याग कर डाला था, क्या उस साहस की छाया तक को अनुभव करने की शक्ति हममें है? यदि उसे अनुभव कर सकते हो तो हे वीर, तुमने मेरे और सबके पूज्य मृत्युञ्जयत्व को पा लिया है।

श्रीरामकृष्ण देव की छोटी-छोटी बातों और मामूली कामों में भी इतने गहरे भाव भरे रहते थे कि स्वयं उनके बिना समझाये उन्हें अपने आप समझना असम्भव था। समाधि टूटने के बाद वे प्रायः किसी नित्य परिचित वस्तु या व्यक्ति को उसके नाम से पुकारते और उसे स्पर्श करते थे, अथवा किसी विशेष पदार्थ को खाना चाहते थे। एक दिन उन्होंने इसका कारण बताया था। उन्होंने कहा था—"साधारण मनुष्य का मन गुह्य, लिङ्ग और नाभि समाश्रित सूक्ष्म स्नायु-चक्र में ही विचरण करता है। परन्तु कुछ शुद्ध होने पर वह हृदय-समाश्रित चक्र में उठ जाता है और दिव्य ज्योति या ज्योतिर्मय रूप आदि का दर्शन कर थोड़ा आनन्द प्राप्त करता है। निष्ठा की एकाग्रता का विशेष रूप से अभ्यास होने पर वह कण्ठाश्रित चक्र में आता है, और इस अवस्था में जिस वस्तु में उसकी सम्पूर्ण निष्ठा होती है, उसके अतिरिक्त और किसी विषय की चर्चा करना असम्भव-सा हो जाता है। यहाँ तक उठ जाने के बाद भी वह फिर नीचेवाले चक्रों में लौट आ सकता है और उस निष्ठा को बिलकुल भूल भी जा सकता है। परन्तु यदि कभी किसी तरह वह कण्ठ के ऊपर भौंहों के बीचवाले चक्र में पहुँच जाता है, तब उसे

निम्नस्थित चक्रों का विषयानन्द उपभोग करना बहुत ही तुच्छ जान पड़ता है। यहाँ से उसके नीचे गिरने की फिर आशङ्का नहीं रहती। यहीं से उसके सम्मुख परमात्मा की ज्योति एक बारीक आवरण के भीतर दिखाई देने लगती है। यद्यपि परमात्मा से थोड़ा भेद रहता है, तथापि मन के यहाँ चढ़ने से ही अद्वैत-ज्ञान का बहुत कुछ आभास होने लगता है, और इस चक्र के ऊपर चढ़ते ही भेदाभेद-बुद्धि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, और पूर्ण अद्वैत-ज्ञान में अवस्थित हो जाती है। मेरा मन तुम लोगों की शिक्षा के लिये कण्ठ तक उतर आता है; यहाँ पर इसे किसी तरह दबाये रखना पड़ता है; लगातार छः महीने तक अद्वैत-ज्ञान में डूबे रहने के कारण इसकी गति स्वभावतः उसी ओर प्रवाहित हुआ करती है। अमुक काम करूँगा, अमुक वस्तु खाऊँगा, इधर देखूँगा, उधर जाऊँगा—इत्यादि छोटी-छोटी वासनाओं का बन्धन यदि न रखा जाय, तो उसका उतारना बड़ा ही कठिन हो जाता है और उसके उतरे बिना चलना-फिरना, खाना-पीना और शरीर धारण करना इत्यादि सभी बातें असम्भव हो जायँगी। इसीलिये समाधिस्थ होते समय मैं ऐसी ही कोई एक साधारण-सी वासना—उदाहरणार्थ अमुक वस्तु खाऊँगा, वहाँ जाऊँगा इत्यादि—मन में रख लेता हूँ, तो भी इन बातों को बार-बार सोचने पर ही कहीं मन वहाँ से नीचे उतरता है।"

पञ्चदशीकार एक स्थान पर कहते हैं—'समाधि प्राप्त करने के पहले मनुष्य जिस अवस्था में, जिस भाव के साथ रहता है, समाधि प्राप्त करने के बाद, अधिक शक्तिशाली होने पर भी, अपनी उस अवस्था को परिवर्तित करने की उसे इच्छा नहीं होती; क्योंकि

ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी सांसारिक वस्तु या अवस्था उसे तुच्छ प्रतीत होती है।' उपर्युक्त प्रबल धर्मानुराग की धारा बहने के पहले श्रीरामकृष्ण का जीवन जिस प्रकार बीतता था, उसका कुछ-कुछ आभास दक्षिणेश्वर में भी उनके दैनिक कार्यों द्वारा पाया जाता था।

शरीर, कपड़े, बिछौना इत्यादि खूब स्वच्छ रखने का उन्हें अभ्यास था। जो चीज़ जहाँ रखनी चाहिये, उसे वे वहीं स्वयं रखते थे, तथा औरों को भी वैसा ही करने को कहते थे—ऐसा न करने से वे असन्तुष्ट हो जाते थे। कहीं जाते समय अँगौछा, थैली इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ सब ठीक ठीक ले ली गई हैं या नहीं, इस बात का वे पूर्ण ध्यान रखते थे, और फिर वहाँ से लौटते समय वे चीज़ें इकट्ठी करके सब साथ में ले ली गई हैं या नहीं—इत्यादि बातों की वे अपने साथ रहने वाले शिष्यों को सदा याद दिला देते थे। वे जिस समय जिस काम को कहते, उस समय उसे करने के लिये वे अत्यन्त व्यग्र हो उठते थे। जिसके हाथ से जो चीज़ लेने को वे एक बार कहते, उसे उसके सिवा और किसी दूसरे के हाथ से नहीं लेते थे—इस-लिये कि उनकी बात झूठी न हो जाय। इसके लिये यद्यपि उन्हें बहुत समय तक असुविधा भी होती, तो भी वे उसे दूसरे के हाथ से न लेते थे। यदि कोई मनुष्य फटे कपड़े, जूते आदि पहनता, तो उसे वे मना करते और नया खरीदने को कहते थे। यदि कोई असमर्थ होता, तो कभी कभी स्वयं भी खरीद दिया करते थे। वे कहा करते थे कि ऐसी चीज़ों के प्रयोग से मनुष्य

को दरिद्रता घेर लेती है। अहंकार या घमण्ड की कोई बात उनके श्रीमुख से निकलनी असम्भव थी। अपना भाव या मत कहते या प्रकाशित करते समय वे अपने शरीर का संकेत करके "यहाँ का भाव", "यहाँ का मत" कहा करते थे। शिष्यों के हाथ, पैर, आँख, मुँह आदि की बनावट, उनके चाल-चलन आदि को सूक्ष्म रूप से देख-भाल कर वे उनकी मनोवृत्तियों तथा गुण-दोषों को बता देते थे। जब कभी भी उन्होंने ऐसा किया, तभी उनके विचार उस मनुष्य के प्रति अक्षरशः सत्य होते देखे गये हैं। कभी थोड़ा भी अन्तर नहीं पाया गया।

बहुत लोग कहा करते हैं कि जितने लोग श्रीरामकृष्ण के पास जाते थे, उनमें से प्रत्येक व्यक्ति की यही धारणा होती थी कि परमहंस देव सब की अपेक्षा उसे ही अधिक प्यार करते हैं। हम यह जानते हैं कि इसका कारण मनुष्यमात्र के सुख-दु:खादि जीवनानुभवों के साथ उनकी गाढ़ी और सच्ची सहानुभूति ही थी। सहानुभूति और प्यार में यद्यपि अन्तर है, तथापि इन दोनों के बाहरी लक्षणों में बहुत कुछ सादृश्य है। जिस किसी विषय को वे कभी सोचते थे उसकी तह तक डूब जाना उनकी एक स्वाभाविक विशेषता थी। इसीलिये तो वे अपने प्रत्येक शिष्य की मानसिक अवस्था को एकदम साफ देख सकते थे, और जिसकी उन्नति के लिये जिस बात की आवश्यकता होती, उसे पूरी करते थे। श्रीरामकृष्ण देव के लड़कपन का वर्णन करते समय पहले हमने यह बताने की चेष्टा की है कि उन्होंने नेत्रादि इन्द्रियों का कितना ठीक-ठीक उपयोग करने का अभ्यास किया था।

उनके उसी अभ्यास और शिक्षा ने मनुष्य-चरित्र के गठन-कार्य में उन्हें इतनी सफलता और योग्यता दी थी, इसमें सन्देह नहीं। शिष्य-वर्ग भी उसी प्रकार इन्द्रियों का सर्वत्र उचित उपयोग करना सीखे, इस बात पर उनका विशेष ध्यान रहता था। वे नित्य विवेक-बुद्धि के द्वारा हर एक काम करने का उपदेश दिया करते थे। 'विवेक-बुद्धि ही गुण और दोषों को बताती तथा मन को सच्चे त्याग की ओर ले जाती है,' उन्हें यह बात कहते कितनी ही बार सुना है। बुद्धिहीन या एकदेशीय बुद्धिवाले का सम्मान उनके यहाँ कभी नहीं होता था। सभों ने उन्हें यह कहते सुना है—"भगवद्भक्त तो होना होगा परन्तु इसलिये क्या मूर्ख भी होना होगा?" अथवा "एकदेशीय बुद्धि मत रख, ऐसा होना यहाँ का भाव नहीं है, परन्तु खट्टा, मीठा, कड़ुवा, तीखा सभी खाऊँगा—यहाँ का यही भाव है।" एकदेशीय बुद्धि को ही वे संकीर्ण बुद्धि या संकीर्ण भाव कहते थे। यदि कोई शिष्य किसी भगवद्भावविशेष से आनन्दित नहीं होता, तो वे "तेरी तो संकीर्ण बुद्धि है"—ऐसा कहकर उसे खूब डाँटते थे। परन्तु यह वे ऐसे ढंग से कहते कि सुनने वाले का, उसे सुनते ही, मारे लज्जा के सिर झुक जाता था। इसी उदार सार्वजनीन भाव की प्रेरणा से वे सब धर्म-मतों के सब प्रकार के भावों को समझ गये थे, और इसीलिये कहा करते थे कि "जितने मत हैं, उतने ही पथ हैं।"

फूल खिला। दूर दूर से मधु-लोभी भौंरे पागलों की तरह चारों ओर से आ जुटे। सूर्य की रश्मि छूकर कमल खिल खिलाकर हँस

पड़ा, उसकी पंखुड़ियाँ खुल गईं और भौंरों को जी भर मधु लेने दिया — उसने इस काम में थोड़ी भी कृपणता नहीं की। पाश्चात्य शिक्षा से एकदम अछूता रहकर, भारत में प्रचलित कुसंस्कार कहाने वाले धर्म-भाव के द्वारा अपने गठित जीवन में श्रीरामकृष्ण ने संसार को जो मधु-पान कराया, क्या उसे कभी वैसा मधु-पान का अवसर मिला था? जिस महान् धर्मशक्ति का सञ्चय कर उन्होंने अपने शिष्यों को अनुप्राणित किया, जिसके प्रबल उच्छ्वास से बीसवीं सदी के विज्ञान-संसार में भी लोग धर्म को एकदम प्रत्यक्ष विषय समझने लगे हैं, और सब धर्मों के अन्दर एक अपरिवर्तनशील जीता-जागता सनातन धर्म-स्रोत प्रवाहित होता देखने लगे हैं — क्या संसार ने पहले भी कभी उस शक्ति का अभिनय देखा था? जैसे वायु एक फूल से दूसरे फूल की ओर जाती है, वैसे ही मनुष्यजीवन क्रमशः एक सत्य से दूसरे सत्य पर पहुँचता हुआ एक अपरिवर्तनीय अद्वैत सत्य की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होता रहता है, और एक दिन आयेगा जब वह उस अनन्त, अपार और 'वाणी तथा मन के अगोचर' सत्य को प्राप्त कर पूर्णकाम बन जाएगा — क्या कभी संसार में इसके पहले यह अभयवाणी सुनी गई है? भगवान श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकर, रामानुज, श्रीचैतन्य आदि भारत के तथा ईसा, मुहम्मद आदि बाहर के धर्माचार्यगण धर्म-जगत् के जिस एकदेशीय भाव को दूर नहीं कर सके हैं, उसी असाध्य साधन को — विपरीत धर्मों के सम्पूर्ण समन्वय को अपने जीवन में एक निरक्षर ब्राह्मण बालक ने कर दिखाया। क्या किसी ने ऐसा चित्र और कभी देखा है? अतएव, हे मनुष्यो! यदि तुम यह बता सकते हो, तो बताओ कि धर्म-जगत में

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का आसन कितना ऊँचा है; परन्तु मुझमें तो इतना साहस नहीं कि उनके आसन की ऊँचाई बताने का प्रयत्न करूँ। हाँ, हम इतना ही कह सकते हैं, कि निर्जीव भारत उनके चरणस्पर्श से पवित्र और जाग्रत हुआ है और उसने संसार में गौरव तथा आशा का स्थान प्राप्त कर लिया है। उनके नर-शरीर धारण करने का फल यह हुआ कि मनुष्य भी देवताओं का पूज्य हुआ है, और उनके द्वारा जिस शक्ति का उद्बोधन हुआ है, उसके विचित्र लीलाभिनय का केवल आरम्भ मात्र ही संसार ने श्री विवेकानन्द में अनुभव किया है।

धर्म

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।

—गीता

यह नव युग-धर्म समस्त जगत् के, विशेषतः भारतवर्ष के कल्याण का कारण है और इस नव युग-धर्म के प्रवर्तक भगवान श्रीरामकृष्ण पूर्व के युग-धर्म-प्रवर्तकों के पुनःसंस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव! यही विश्वास करो, इसकी धारणा करो।

मरा हुआ व्यक्ति फिर नहीं जीता। बीती हुई रात फिर नहीं आती। नदी की गई बाढ़ फिर नहीं लौटती। जीवात्मा दो बार एक ही देह नहीं धारण करता। हे मानव! हम, तुम लोगों को मुर्दे की पूजा छोड़कर जीवित की पूजा के लिये पुकारते हैं, हम तुम्हें गत की अनुशोचना त्यागकर प्रस्तुत प्रयत्न के लिये बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में वृथा श्रम न करके, अभी बनाये हुए प्रशस्त और निकट के पथ पर चलने को बुलाते हैं; बुद्धिमान, समझ लो!

—स्वामी विवेकानन्द

*

श्रीरामकृष्ण देव की धर्म-वाणी

(स्वामी ब्रह्मानन्द)

आत्मज्ञान

१. मनुष्य अपने आपको पहचानने से भगवान को पहचान सकता है। 'मैं कौन हूँ?' इस बात पर भली भाँति विचार करने से मालूम पड़ता है कि 'मैं' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। हाथ, पैर, खून, माँस इत्यादि—इनमें से 'मैं' कौन है? जिस प्रकार प्याज का छिलका अलग करते करते छिलका ही निकलता जाता है, कुछ बाकी नहीं बचता, उसी तरह विचार करने पर 'मैंपन' के नाम से कुछ बचता नहीं। अन्त में जो कुछ रहता है वही आत्मा या चैतन्य है। 'मैं और मेरा' भाव दूर हो जाने पर भगवान के दर्शन होते हैं।

२. 'मैं' दो प्रकार का होता है। एक है पक्का 'मैं' और दूसरा कच्चा 'मैं'। मेरा मकान, मेरा घर, मेरा लड़का — यह सब कच्चा 'मैं' है। और पक्का 'मैं' है — मैं उनका दास, मैं उनकी सन्तान और मैं वही नित्य-मुक्त-ज्ञान स्वरूप हूँ।

३. एक व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण देव से कहा, "मुझको ऐसा उपदेश दीजिये कि एक ही बात से मुझमें ज्ञान आ जाय।" उत्तर मिला, 'ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है' इस बात की धारणा करो।

४. नागा तोतापुरीजी से श्रीरामकृष्ण देव ने पूछा, "इतनी ऊँची अवस्था होने पर भी रोज रोज आपको ध्यान करने की क्या

आवश्यकता है?" तोतापुरीजी ने जवाब दिया, "लोटे को यदि रोज रोज माँजा न जाय तो मैला पड़ जाता है; नित्य ध्यान न करने से चित्त में अशुद्धि आ जाती है।" परमहंस देव ने कहा, "अगर सोने का लोटा हो तो काला न होगा, अर्थात् सच्चिदानन्द लाभ होने पर साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती।"

५. 'मैं' का बोध रहने से, 'तुम' का भी बोध रहेगा। जैसे, जिसको उजाले का ज्ञान है उसको अन्धेरे का ज्ञान भी अवश्य रहेगा; जिसको अच्छे का ज्ञान है, उसको बुरे का भी ज्ञान होगा, जिसको पुण्य का ज्ञान है, उसको पाप का भी ज्ञान ज़रूर होगा।

६. जैसे जूते पहनकर निःशङ्क काँटों के ऊपर से चला जा सकता है, उसी तरह 'तत्वज्ञान' का आवरण पहन कर मन इस काँटेदार संसार में विचरण कर सकता है।

७. जब तक वहाँ वहाँ (अर्थात् दूर या बाहर) है तब तक अज्ञान है, और जब यहाँ यहाँ है (अन्तर की ओर दृष्टि है) तभी ज्ञान है। जिसके लिये 'यहाँ' (अर्थात् अन्तर में भाव) है, उसके लिये 'वहाँ' भी है (अर्थात् भगवच्चरणों में स्थान है)।

ईश्वर

१. भगवान सब के भीतर किस प्रकार विराजते हैं? जैसे चिक की आड़ में बड़े घराने की औरतें; वे सब को देखती हैं पर उनको कोई नहीं देख पाता। भगवान भी ऐसे ही सब में मौजूद हैं।

२. प्रदीप का काम है प्रकाश देना; कोई तो उसकी सहायता से रसोई बनाता है, कोई रामायण या अन्य सद्ग्रन्थ पढ़ता है और कोई जाली कार्रवाई करता है, पर यह सब क्या प्रकाश के गुण या

दोष कहे जा सकते हैं? अर्थात् कोई तो भगवान का नाम लेकर मुक्ति के लिये कोशिश करता है; और कोई वही नाम लेकर चोरी करता है अथवा पाखण्ड रचता है; यह सब क्या भगवान के दोष कहे जा सकते हैं?

३. जिसका जैसा भाव उसकी वैसी प्राप्ति; भगवान कल्प-वृक्ष के समान ह। उनसे जो कुछ प्रार्थना की जाती है वही प्राप्त होता है। गरीब का लड़का हाईकोर्ट का जज बनकर समझता है, मैं बड़ी अच्छी तरह से हूँ। भगवान भी तब कहते हैं, तुम अच्छी तरह से ही रहो। फिर जब पेन्शन लेकर घर में बैठता है तब सोचता है इस जीवन में मैंने क्या किया? भगवान भी तब कहते है, 'हाँ, ऐसा ही है; तुमने क्या किया?'

४. ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं; ब्रह्म जब निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं तब उनको शुद्ध ब्रह्म कहा जाता है। और जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय इत्यादि करते हैं तब वह उनकी शक्ति का कार्य कहलाता है।

५. परमहंस देव एक दिन त्रैलङ्ग स्वामीजी के दर्शन के लिए गये। परमहंस देव ने पूछा, "ईश्वर तो एक है; फिर लोग उन्हें अनेक क्यों बतलाते हैं?" त्रैलङ्ग स्वामीजी ने मौन व्रत होने के कारण एक उंगली उठा किंचित् ध्यानस्थ होकर इशारे से समझाया कि भगवान का ध्यान करने से पता चलता है कि वे एक ही हैं, पर विचार करते ही 'नानात्व' बुद्धि आकर घेर लेती है।

६. जो साकार हुए वे ही निराकार भी हैं। भक्त के निकट वे साकार रूप से प्रकट होकर दर्शन देते हैं। जैसे महा समुद्र है तो केवल अनन्त जल-राशि,—हाँ, कहीं कहीं पर अति ठण्डक पड़ने के

कारण उसका जल जमकर बरफ़ के रूप में दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार भक्त की भक्तिरूपी ठण्डक से भगवान के साकार रूप का दर्शन-लाभ होता है। परन्तु सूर्य निकलने पर जैसे बरफ गल जाती है और पहले की तरह जल हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर वही साकाररूपी बरफ़ गलकर जल हो जाती है अर्थात् सब कुछ निराकार हो जाता है।

माया

१. साँप के दाँतों में विष है। वह जब स्वयं खाता है तब उस पर विष प्रभाव नहीं डालता। परन्तु जब वह दूसरे को काटता है तब विष उस व्यक्ति पर प्रभाव कर जाता है। उसी प्रकार भगवान में माया तो अवश्य है, पर वह उन्हें मुग्ध नहीं कर सकती, परन्तु दूसरों को मुग्ध कर लेती है।

२. माया किसे कहते हैं? बाप, माँ, भाई, स्त्री, पुत्र, भाँजा, भतीजा—इन सब से जो मोह है वही माया है। और दया का अर्थ है—सर्व भूतों में हमारे हरि विराजमान हैं यह समझ कर सबसे बराबर प्रेम करना।

३. जिसको भूत आ जाता है वह यदि यह बात जान जाता है तो भूत भाग जाता है। माया-मुग्ध जीव यदि एक बार ठीक से जान ले कि वह माया द्वारा ग्रसित है तो माया उसे शीघ्र ही छोड़ जाती है।

४. जीवात्मा और परमात्मा के बीच में एक माया का परदा है। यह परदा न हटने से आपस में भेंट नहीं हो सकती। जैसे आगे रामजी, बीच में जानकीजी और पीछे लक्ष्मणजी। यहाँ पर राम को

परमात्मा मान लो और लक्ष्मण को जीवात्मा। बीच में जानकीजी माया-रूपी परदा हैं। जब तक जानकीजी बीच में हैं तब तक लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी को नहीं देख सकते हैं। यदि जानकीजी थोड़ा हट जायँ तो लक्ष्मणजी को रामजी के दर्शन हो जायँ।

५. माया दो प्रकार की है—एक विद्या, दूसरी अविद्या। और विद्यारूपी माया भी दो प्रकार की होती है, १—विवेक, २—वैराग्य। इसी विद्यारूपी माया का अवलम्बन कर जीव भगवान की शरण में आता है। अविद्यारूपी माया छः प्रकार की होती है।—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। अविद्यारूपी माया 'मैं' और 'मेरा' के ज्ञान द्वारा मनुष्यों को बाँध रखती है। परन्तु विद्यारूपी माया के प्रकाश से जीव की अविद्या एकदम नष्ट हो जाती है।

६. जब तक पानी गन्दा रहता है तब तक चन्द्र या सूर्य की परछाईं उसमें ठीक ठीक दिखलाई नहीं पड़ती; उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' यह भाव जब तक दूर न हो जाय तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

७. जैसे सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किए रखता है, परन्तु बादल के छोटे से टुकड़े के आते ही दिखलाई नहीं देता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और सर्वसाक्षी सच्चिदानंद को हम मामूली माया के परदे के कारण नहीं देख सकते।

८. तालाब की काई हटाने पर भी वह अपने आप फैल जाती है, उसी तरह माया को एक बार हटाने पर भी फिर से वह आ घेरती है। पर यदि काई को हटाकर बाँस का बेड़ा बाँध दिया जाय तो काई बाँस को पार करके दुबारा नहीं आ सकती। उसी

प्रकार माया को हटा कर ज्ञान और भक्ति का बेड़ा लगाये रखने से माया अन्दर नहीं घुस सकती; केवल सच्चिदानन्द ही प्रकाशमान रहते हैं।

अवतार

१. जब बड़े बड़े शहतीर पानी के ऊपर तैरते हैं तो उनके ऊपर चढ़कर कितने ही मनुष्य नदी को पार कर सकते हैं; उनके बोझ से वे डूबते नहीं हैं। पर छोटीसी एक लकड़ी के टुकड़े पर यदि कौआ भी बैठ जाय तो वह डूब जाता है। इसी प्रकार जब भगवान के अवतारों का आविर्भाव होता है तो कितने ही हज़ारों लाखों मनुष्य उनके आश्रय से तर जाते हैं। परन्तु सिद्ध पुरुष अपनी चेष्टा से बहुत ही कष्ट पाकर स्वयं को पार कर सकता है।

२. रेल का इञ्जिन स्वयँ भीं आगे बढ़ता है और कितने ही माल के डब्बों को भी अपने साथ खींच ले जाता है। अवतार भी उसी प्रकार हजारों लाखों मनुष्यों को ईश्वर के निकट पहुँचा देता है।

जीव के अवस्था-भेद

१. मनुष्य मानो तकिये की गिलाफ हैं। ऊपर से देखने पर कोई तो लाल है और कोई काला, पर सबके भीतर रुई ही है। कोई मनुष्य देखने में सुन्दर है, कोई काला, कोई महात्मा है, तो कोई दुरात्मा है; परन्तु सबके भीतर वही एक परमात्मा विराजमान हैं।

२. संसार में दो प्रकार के मनुष्यों के स्वभाव पाये जाते हैं। कुछ तो सूप की तरह स्वभाव रखते हैं और कुछँ चलनी की तरह होते हैं। सूप भूसी इत्यादि असार वस्तुओं का त्याग करके सार-युक्त वस्तुओं को ग्रहण करता है, जैसे अनाज इत्यादि,

उसी प्रकार कुछ लोग संसार की असार वस्तुओं (कामिनी, काञ्चन आदि) को छोड़कर सार-युक्त बात अर्थात् भगवान को ग्रहण करते हैं। और जैसे चलनी सार-युक्त वस्तुओं को निकालकर असार वस्तुओं को अपने अन्दर रखती है इसी प्रकार संसार के कुछ पुरुष सार-युक्त वस्तु ईश्वर को त्याग कर कामिनी, काञ्चनादि को ग्रहण करते हैं।

३. जाल में पड़ने पर भी कुछ मछलियाँ भागने की थोड़ी भी चेष्टा नहीं करतीं, चुपचाप पड़ी रहती हैं; और कुछ इधर उधर छटपटाती रहती हैं, पर भाग नहीं पातीं। एक तीसरे प्रकार की मछली होती है जो जाल को काटकर भाग जाती है। इसी प्रकार सांसारिक जीव भी तीन प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त।

४. दो प्रकार की मक्खियाँ होती हैं। एक तो शहद की मक्खियाँ जो शहद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाती। दूसरी जो साधारण मक्खियाँ होती हैं वे शहद पर भी बैठती हैं और यदि सड़ता हुआ घाव दिखलाई पड़े तो तुरन्त शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं। इसी प्रकार दो तरह के स्वभाव के लोग होते हैं; एक, जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं वे ईश्वर की चर्चा के अतिरिक्त कोई दूसरी बात रखते ही नहीं और दूसरे, जो संसार में आसक्त जीव हैं वे ईश्वर की बात सुनते सुनते यदि किसी स्थान पर विषय की बातें होती हों तो तुरन्त भगवान की चर्चा को छोड़ उसी में संलग्न हो जाते हैं।

५. यदि मगर के ऊपर किसी शस्त्र द्वारा हमला किया जाय तो उसे घायल न करके शस्त्र छटककर अलग जा गिरता है। उसी प्रकार संसारी जीवों के निकट धर्म-चर्चा कितनी ही क्यों न की जाय उनके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।

६. सूर्य की किरणें सर्वत्र समान होने पर भी दर्पण और स्वच्छ पदार्थों पर विशेष भाव से प्रकशित होती हैं। भगवान प्रत्येक जीव में समान रूप से विद्यमान होते हुए भी, महात्माओं के हृदय में उनका प्रकाश विशेष रूप से दीख पड़ता है।

७. सभी प्रकार का पानी नारायण का रूप है। परन्तु प्रत्येक स्थान का जल पीने योग्य नहीं होता। सब कहीं परमात्मा है, पर प्रत्येक स्थान पर जाना अनुचित है। जैसे किसी जल से पैर धोये जाते हैं, कोई पिया जाता है और कोई जल स्पर्श तक नहीं किया जाता। इसी प्रकार किसी स्थान पर जाना चाहिये और किसी स्थान को दूर ही से प्रणाम करके भाग जाना चाहिये।

८. गुरुजी ने एक शिष्य को उपदेश दिया कि सभी जीवों में जगदीश्वर का वास है। शिष्य ने भी ऐसा ही समझ लिया। एक दिन रास्ते में एक हाथी जा रहा था; महावत ने कहा, "हट जाओ।" शिष्य ने सोचा, "मैं क्यों हटूँ? मैं भी नारायण, हाथी भी नारायण, फिर डर किस बात का?" यह सोचकर वह वहाँ से न हटा। अन्त में हाथी ने उसे सूँड़ से उठाकर दूर फेंक दिया। इससे उसे बड़ी चोट पहुँची। इसके पश्चात् उसने गुरुजी से पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। गुरुजी ने कहा,—"भली कही! तुम नारायण हो और हाथी भी नारायण है; पर ऊपर से महावतरूपी नारायण जो था उसकी बात क्यों नहीं सुनी?"

९. जैसे कसौटी पर सोना या पीतल को घिसते ही उनके भेद का पता चल जाता है, उसी प्रकार भगवान के निकट सरलता या कपटता का पता शीघ्र ही चल जाता है।

गुरु

१. गुरु एक ही होता है, परन्तु उपगुरु बहुत से हो सकते हैं। जिनसे कुछ भी शिक्षा प्राप्त हो उन्हीं को उपगुरु कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि अवधूत मुनि ने इस प्रकार चौबीस उपगुरु किये थे।

२. वैद्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो वैद्य केवल नाड़ी देखकर "यह लो दवा, खा लेना" कहकर चले जाते हैं वे अधम श्रेणी के होते हैं। जो वैद्य बड़ी मीठी बातों द्वारा उसे समझाता है कि औषधि-सेवन से लाभ ही होगा वे मध्यम श्रेणी के होते हैं और जो वैद्य रोगी को किसी प्रकार से भी औषधि-सेवन करता न देखकर, उसके सीने पर सवार होकर मुँह खोलकर दवा खिलाता है, वह उत्तम श्रेणी का होता है। इसी प्रकार जो गुरु या आचार्य धर्म-शिक्षा देकर शिष्य की कोई भी खबर नहीं रखते हैं, वे गुरु अधम हैं। जो शिष्य के मङ्गल के निमित्त बारम्बार प्यार से समझाते रहते हैं, जिससे शिष्य उनके उपदेश धारण करे वे मध्यम प्रकार के होते हैं। और जो गुरु यह देखकर कि शिष्य ठीक ठीक उनके उपदेशों का पालन नहीं करता है उसके ऊपर जबरदस्ती तक करते हैं, उनकी गणना उत्तम गुरुओं में होती है।

धर्म अनुभव की वस्तु है

(पठन या विचार की नहीं)

१. शास्त्र-विचार कब तक आवश्यक है, जानते हो? जब तक सच्चिदानन्द भगवान से साक्षात् न हो। जैसे भौंरा जब तक फूल पर नहीं बैठता तभी तक गुञ्जार किया करता है; और जब फूल के

ऊपर बैठकर मधुपान करता रहता है तब एकदम चुपचाप हो जाता है, किसी भी प्रकार का शब्द नहीं करता।

२. स्वर्गीय महात्मा केशवचन्द्र सेन ने परमहंस देव से पूछा, "बहुत से पण्डित लोग अनेक शास्त्रों का पठन करते हैं, पर उनको ज्ञान लाभ क्यों नहीं होता?" परमहंस देव ने उत्तर दिया, "जैसे चील, गिद्ध बहुत ऊँचे उड़ते तो हैं, परन्तु उनकी दृष्टि पृथ्वी पर, मरे हुए जानवरों की ओर ही रहती है, उसी प्रकार अनेक शास्त्रों का पठन करने से ही क्या होगा? उनका मन सदैव कामिनी-काञ्चन में आसक्त रहने के कारण ज्ञान-लाभ नहीं कर पाता।"

३. परमहंस देव का कथन है, "ग्रन्थ तो ग्रन्थ का काम न करके ग्रन्थि (गाँठ) का ही काम करते हैं।" बिना विवेक और वैराग्य के ग्रन्थादि का पाठ करने से अहङ्कार की ही गाँठ हृदय में बढ़ा करती है।

४. जैसे खाली गडुए में पानी भरते समय भक भक शब्द होता है, परन्तु भर जाने पर किसी प्रकार का शब्द नहीं होता उसी प्रकार जिसको भगवान प्राप्त नहीं हुए हैं वे ही भगवान के सम्बन्ध में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क किया करते हैं, और जो भगवत्-दर्शन लाभ कर लेते हैं वे स्थिर होकर परमानन्द का भोग करते हैं।

५. विवेक और वैराग्य के बिना शास्त्र पढना व्यर्थ है। विवेक-वैराग्य के बिना धर्मलाभ भी नहीं होता। सत् और असत् का विचार करके सद्वस्तु ग्रहण करना तथा देह पृथक् और आत्मा पृथक् है, ऐसे विचार-बुद्धि का नाम विवेक है; विषय में वितृष्णा का नाम वैराग्य है।

६. पञ्चाङ्ग में लिखा रहता है कि यथेष्ट वर्षा होगी, परन्तु समूचे पत्रे को निचोड़ने पर एक बूँद भी जल नहीं निकल सकता। वैसे ही पोथियों में अनेक धर्मविषयक बातें लिखी रहती हैं पर केवल पढ़ने से ही कोई लाभ नहीं हो सकता, साधना की भी आवश्यकता होती है। .

७. एक बाग में दो आदमी घूमने गये। उनमें से जिसकी सांसारिक बुद्धि प्रबल थी वह विचार करने लगा कि उस बाग में कितने आम के पेड़ हैं और उनमें कितने आम लगे हैं, अथवा बाग का मूल्य क्या हो सकता है, इत्यादि इत्यादि। और दूसरा आदमी बाग के मालिक के साथ दोस्ती कर पेड़ के नीचे बैठकर एक एक करके आम तोड़ता और खाता गया। कहो, इनमें कौन विशेष बुद्धिमान है? आम खाओ, पेट भरेगा; केवल आम गिनने और पत्तों का हिसाबकिताब करने में क्या रखा है? जो लोग ज्ञान का अभिमान करते हैं, शास्त्र, मीमांसा व तर्क-युक्ति में ही फँसे रहते हैं वे आम गिनने वाले के समान हैं। बुद्धिमान भक्तजन भगवान की कृपा से इस संसार में परम सुख प्राप्त करते हैं और वे आम खाने वाले के समान सुखी हैं।

८. जहाँ हाट लगा हो वहाँ से दूर खड़े होने पर केवल हू हा का शब्द सुनाई देता है। जब तक भीतर न प्रवेश किया जाय तब तक हू हा का शब्द स्पष्ट रूप से ठीक समझ में नहीं आता। भीतर प्रवेश करने पर पता चलता है कि कोई सौदा कर रहा है और कोई पैसे देकर वस्तुएँ खरीद रहा है। ऐसे ही, धर्म-जगत् के बाहर रह कर धर्म-भाव का स्पष्ट रूप कुछ भी समझ में नहीं आ सकता।

९. इस संसार में सब वस्तुएँ जूठी हो चुकी हैं। केवल एक

ब्रह्म-वस्तु ही जूठी नहीं हो सकी। वेद-पुराण इत्यादि सब मनुष्य के मुख से उच्चारण होने के कारण जूठे हो चुके हैं। किन्तु अब तक ब्रह्म क्या वस्तु है कोई भी मुख से वर्णन नहीं कर पाया।

१०. जैसे बालक को रमण-सुख नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार विषयासक्त मायायुक्त संसारी जीव को ब्रह्मानन्द नहीं समझाया जा सकता।

११. "नाक् तेरे केटे ताक्" तबले के ये बोल मुँह से कहना सहज है किन्तु उसे बजाना कठिन है। ऐसे ही धर्म की बातें कहना सहज है किन्तु कार्य में परिणत करना कठिन है।

१२. रामचन्द्र नाम का एक ब्रह्मचारी परमहंस देव के दर्शन करने आया। वह बैठ गया और कोई बातचीत न कर केवल 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्' रटने लगा। कुछ देर चुप रहने के बाद परमहंस देव ने कहा, "केवल शिवोऽहम् करने से क्या होगा? जब उस सच्चिदानन्द शिवजी का हृदय में ध्यान करने से तन्मयता प्राप्त हो जाय तो तभी 'शिवोहम्' कहना उचित है। नहीं तो केवल मुख से शिवोऽहम् कहने से क्या होगा? जब तक ऐसी अवस्था न हो जाय तब तक सेव्य-सेवक भाव ही अच्छा होता है।" परमहंस देव के ऐसे उपदेशों द्वारा ब्रह्मचारी को चैतन्य हो गया और वह अपनी भूल समझ सका।

संसार और साधना

१. लुकी लुकौअल खेलते समय ढाई को छू लेने से चोर नहीं माना जाता है वैसे ही भगवान के पादपद्म छू लेने से फिर मनुष्य

संसार में नहीं फँस सकता। संसार में जिन्होंने ईश्वर का आश्रय लिया है, वे किसी भी विषय में नहीं फँसते।

२. संसार में रहकर जो साधना करते हैं, वे ही वीर साधक के नाम से पुकारे जा सकते हैं। शक्तिवान पुरुष जैसे सिर पर भारी बोझ लादे रहने पर भी दूसरी ओर गर्दन मोड़कर देख सकता है, वैसे ही वीर साधक इस संसार के बोझ को लादे रहने पर भी भगवान की ओर देख सकता है।

३. गाँव की औरतें सिर पर चार पाँच घड़े रखकर ले जा सकती हैं। रास्ते में अपनी जान पहचान वाले लोगों से तनिक देर खड़ी होकर बातें भी करती जाती हैं, पर उनका ध्यान हर समय उन्हीं घड़ों की ही ओर रहता है, जिससे कहीं वे गिर न पड़ें। धार्मिक पुरुषों को भी इसी प्रकार धर्मपथ पर दृष्टि रखना उचित है जिससे कि वे रास्ता न भूल जायँ।

४. कुलटा स्त्री अपने कुटुम्ब में रहते हुए भी गृहस्थी के सभी काम करती है, पर उसका मन उप-पति की ओर ही लगा रहता है। वह काम-काज करते समय भी सर्वदा सोचती रहती है कि कब उप-पति के साथ भेंट होगी। ऐसे ही तुम भी संसार के सब काम-काजों को करते हुए अपने मन को प्रतिक्षण भगवान की ओर रखो।

५. एक किसान सारे दिन गन्ने के खेत में पानी सींचने के बाद खेत में गया तो उसने देखा कि एक बूँद भी पानी खेत में नहीं पहुँचा है। उस खेत में कई बिल थे; उनमें से होकर सारा पानी दूसरी ओर बह गया। इसी प्रकार जो साधक विषय-वासना और संसार के मानापमान की ओर ध्यान देते हुए साधना करते हैं, वे जीवन भर

ईश्वर की उपासना करने पर भी अन्त में यही देखते हैं कि उन वासनारूपी बिलों के द्वारा उनकी सम्पूर्ण चेष्टायें व्यर्थ हो गईं।

६. संसार में सुख के लोभ से बहुत से लोग धर्म-कर्म किया करते हैं। परन्तु तनिक दुःख पाते ही या मरने के समय वे सब भूल जाते हैं। जैसे तोता सारे दिन राधा कृष्ण, राधा कृष्ण रटता रहता है, परन्तु ज्योंही बिल्ली आकर पकड़ती है त्योंही वह राधा कृष्ण नाम छोड़कर टें टें करने लगता है।

७. पानी में नाव रहने से कोई हानि नहीं है, परन्तु नाव में पानी पहुँच जाय तो नाव डूब जाएगी। साधक को संसार में रहने से कोई हानि नहीं है, परन्तु साधक के मन में संसार-भाव घुसने का फल बुरा ही होता है।

८. मनुष्य को ज्ञान लाभ होने पर वह किस प्रकार हो जाता है, जानते हो? जैसे काँच के बने हुए कमरे के बाहर और भीतर दोनों ओर उसमें बैठा हुआ पुरुष देख सकता है।

९. गीता पढ़ने से जो फल प्राप्त होता है, वही गीता शब्द को बार बार उच्चारण करने से स्पष्ट हो जाता है, जैसे 'गी तागी तागी तागी तागी............ता।' गीता का तात्पर्य त्यागी बनना ही है।

साधना का अधिकारी

१. जैसे आम, अमरूद इत्यादि समूचे फल भगवान के भोग में लगा सकते हैं, परन्तु यदि कौआ उनमें एक बार चोंच मार दे तो फिर वे देवता को नहीं चढ़ाये जा सकते, न ब्राह्मण को दिये जा सकते हैं, और न अपने या किसी और के खाने में ही आ सकते हैं। उसी प्रकार पवित्रहृदय बालकों या युवकों को ही धर्म-पथ में लाने

की चेष्टा करना उचित है, क्योंकि जिस पुरुष के हृदय में एक बार भी विषय-बुद्धि प्रवेश कर गई है, उसका धर्म-पथ पर चलना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

२. तोते के गले में कण्ठी निकलने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता। केवल जब तक वह बच्चा रहता है तभी तक जो चाहो वह सीख सकता है। उसी प्रकार बूढ़े का मन सहज में ईश्वर की ओर नहीं जाता, पर बाल्यावस्था में थोड़ी ही चेष्टा से मन स्थिर हो सकता है।

३. मनुष्य का मन मानो सरसों की पोटली है। पोटली की सरसों यदि एक बार बिखर जाय तो इकट्ठा करना मुश्किल हो जाता है। वैसे ही मनुष्य का मन सांसारिक कर्मों में बिखर जाने पर सम्हालना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है। बालक का मन बिखरा न होने के कारण बहुत ही शीघ्र स्थिर हो जाता है, परन्तु बूढ़ों का मन सोलह आने संसार में बँटे रहने के कारण संसार से फिर हटा-कर ईश्वर में लगाना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

भिन्न भिन्न प्रकार के साधक

१. संसार में दो प्रकार के साधक दिखलाई देते हैं, जैसे बन्दर का बच्चा और बिल्ली का बच्चा। बन्दर का बच्चा पहले अपनी माँ को पकड़ता है, फिर माँ उसको साथ लेकर जहाँ तहाँ घूमती है। बिल्ली का बच्चा केवल एक ही स्थान में रहकर म्याऊँ म्याऊँ करता रहता है। फिर उसकी माँ उसकी गर्दन पकड़कर इधर उधर ले जाती है। उसी प्रकार ज्ञानी या कर्मी साधक अपनी चेष्टा द्वारा ईश्वर-लाभ का प्रयत्न किया करते हैं, और भक्त साधक ईश्वर को ही

अपना कर्ता-धर्ता समझकर उन्हीं के चरणों में भरोसा किये हुए बिल्ली के बच्चे की भाँति निश्चिन्त होकर रहते हैं।

२. एक ही व्यक्ति किसी का पिता, किसी का ताऊ, किसी का चाचा, किसी का मौसा, किसी का लड़का, किसी का दामाद और किसी का श्वशुर इत्यादि होता है। यहाँ पर व्यक्ति एक होने पर भी सम्बन्ध के भेद से अनेक प्रकार के भेद उपस्थित हो जाते हैं। इसी तरह भक्तजन उसी एक सच्चिदानंद की शान्त, दास्य, वात्सल्य और मधुर आदि नाना भावों से उपासना करते हैं।

३. राजा के महल में जो भीख माँगने की अभिलाषा से जाकर वहाँ आटा, चावल इत्यादि साधारण वस्तुओं की प्रार्थना करता है, वह नितान्त मूर्ख है। राजाधिराज भगवान के दरवाजे पहुँचकर ज्ञान, भक्ति आदि रत्नों की प्रार्थना करने के स्थान पर जो अष्ट सिद्धि आदि किसी सांसारिक तुच्छ कामना की प्रार्थना करता है, वह बड़ा मूर्ख है।

उत्तम भक्त

१. हजारों वर्ष तक यदि पत्थर पानी में पड़ा रहे तो भी पानी उसके अन्दर कभी नहीं घुस सकता, पर मिट्टी का ढेला पानी लगते ही गल जाता है। जो विश्वासी भक्त हैं, वे हजारों विपत्तियों में पड़ने पर भी हताश नहीं होते, पर अविश्वासी मनुष्य का हृदय सामान्य कारण से ही टल जाता है।

२. प्रह्लाद की स्तुति से सन्तुष्ट होकर भगवान ने पूछा, 'तुम क्या वर चाहते हो?' प्रह्लाद ने कहा, "हे भगवन्! जिन्होंने मुझे कड़े कड़े कष्ट दिये हैं, उन्हें आप क्षमा कीजिये। उनको दण्ड देने

पर आप ही को कष्ट सहना पड़ेगा, क्योंकि आप ही तो सर्व भूतों में विद्यमान हैं।"

साधना-पथ में विघ्न

१. जैसे घड़े में एक भी छेद रहने से सब पानी धीरे धीरे बह जाता है उसी प्रकार साधक के अन्दर यदि थोड़ी भी आसक्ति रह जाय तो सब साधना व्यर्थ हो जाती है।

२. जैसे चींटी, शक्कर और बालू एक साथ रहने पर भी, बालू को छोड़ शक्कर खा लेती है वैसे ही सन्त लोग इस संसार में सद्वस्तु सच्चिदानन्द को ग्रहण करते हैं और असद् वस्तु, जैसे कामिनी-कांचन, को त्याग देते हैं।

३. कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता। वैसे ही जीव में जब कामिनी-कांचन रूपी तेल लग जाता है तो वह साधना करने के योग्य नहीं रह जाता। फिर वह तेल लगा हुआ कागज भी जैसे खड़िया घिस लेने से लिखने योग्य हो जाता है, वैसे ही काम-कांचन में फँसे हुए जीव भी त्यागरूप खड़िया के लगाने से साधना के लिए अधिकारी बन जाते हैं।

४. जो तालाब छिछला है, उसका पानी पीना हो तो ऊपर से धीरे धीरे ले लेना चाहिये। अधिक खलबलाने से नीचे जमी हुई गन्दगी ऊपर उठकर सारे पानी को मैला कर देती है। ऐसे ही यदि सच्चिदानन्द लाभ करना चाहते हो तो गुरु के उपदेश में विश्वास करके धीरेधीरे साधना करो। व्यर्थ में केवल शास्त्र-विचार अथवा तर्क-वितर्क से यह छिछला मन मैला हो जाएगा।

५. मन और मुख दोनों के एक करने का नाम ही साधना है।

नहीं तो मुख से तो कहते हैं, "हे भगवन्! तुम्हीं हमारे सर्वस्व हो" परन्तु मन में विषय को ही सर्वस्व मान कर बैठे हैं। ऐसे मनुष्यों की समस्त साधना व्यर्थ हो जाती है।

६. वासना का चिन्ह मात्र भी रह जाने पर भगवान प्राप्त नहीं होते। डोरे में यदि ज़रा भी फुचड़ा निकला रहे तो वह सूई के छिद्र में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासनारहित होकर शुद्ध हो जाता है तभी सच्चिदानन्द लाभ होता है।

७. सम्पूर्ण एकान्त स्थान में युवती स्त्री को देख जो पुरुष माता कहकर चला जाता है, उसी को ठीक ठीक त्यागी कहना चाहिये और जो सभा में त्यागी बनकर रहे वह वास्तव में त्यागी नहीं है।

८. अभिमान-शून्य होना बड़ा ही कठिन है। जिस प्रकार प्याज, लहसुन को कुचलकर यदि किसी बर्तन में रखा जाय और फिर उस बर्तन को सैकड़ों बार धोया जाय तो भी उसकी गन्ध नहीं जाती उसी प्रकार अभिमान का चिन्ह कुछ न कुछ शेष रह ही जाता है।

९. भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, "हे अर्जुन, अष्ट सिद्धियों में से एक भी सिद्धि के रहने पर तुम हमारे परम भाव का लाभ नहीं कर सकते।" अतएव जो सचमुच भक्त व ज्ञानी हैं वे किसी भी रूप में सिद्धि की कामना नहीं करते।

साधना के सहायक

१. प्रथमावस्था में थोड़ा एकान्त में बैठकर मन स्थिर करना चाहिये; नहीं तो बहुत कुछ देख सुनकर मन चंचल हो जाता है। जैसे दूध और पानी इकट्ठा रखने से मिल जाते हैं, परन्तु दूध मथकर मक्खन बना लेने पर वह पानी के साथ नहीं मिलता, पानी के

ऊपर ही तैरता रहता है। वैसे ही जिनका मन स्थिर हो चुका है वे कहीं भी बैठकर सर्वदा ईश्वर की चिन्ता कर सकते हैं।

२. ध्यान करो — मन में, वन में और घर के कोने में।

३. एकान्त में बिना गये कठिन बीमारी कैसे अच्छी होगी? बीमारी तो है सन्निपात की, और जिस कमरे में वह रोगी है उसी कमरे में इमली का अचार तथा जल का कुण्डा है। उसी प्रकार स्त्री तो पुरुष के लिए इमली का अचार है और भोग-वासना है जल का कुण्डा; इससे बीमारी कैसे अच्छी होगी? कुछ दिन सदा के निवास-स्थान से कहीं एकान्त में जाकर साधन-भजन करना चाहिये। तदनन्तर नीरोग होकर फिर उसी कमरे में रहने से भी कोई डर नहीं।

४. प्रथमावस्था में थोड़ा एकान्त में बैठकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। फिर जब ठीक ठीक अभ्यास हो जाता है, तब कहीं भी ध्यान लग सकता है। जैसे, पेड़ जब छोटा रहता है, तब उसको बड़े यत्न से घेरकर बेड़ा लगाना होता है, नहीं तो गाय बकरियाँ उसे खाकर नष्ट कर देती हैं; फिर जब तना मोटा हो जाता है तब उसमें दस गायों और बकरियों के बाँधने से भी उस पेड़ को कुछ हानि नहीं हो सकती।

५. एक दिन किसी लड़के ने परमहंस देव से पूछा था — "महाराज! काम का दमन कैसे किया जाय?" परमहंस देव ने मुसकराकर कहा — "सब स्त्रियों में मातृभाव रखना और कभी स्त्रियों के मुँह की ओर नहीं देखना। सर्वदा केवल पैरों की ओर ही दृष्टि रखना; इससे सारे कुविचार दूर भाग जायँगे।"

६. बरसात में पतंग दीपक देखते ही दौड़ आते हैं और प्राणों

को न्योछावर कर देते हैं, पर फिर अँधियारे में नहीं जाते; वैसे ही जो भगवान के भक्त हैं, वे जहाँ कहीं साधु-सज्जन रहते हैं और भगवत्प्रसंग होता है वहीं चले जाते हैं, और फिर साधन-भजन छोड़कर संसार के असार पदार्थों में बद्ध नहीं होते।

७. मन कैसा है, जानते हो?—जैसे स्प्रिंग की गद्दी। जब तक गद्दी के ऊपर बैठे रहते हैं, तब तक वह गद्दी नीचे दबी रहती है, परन्तु उठते ही उसी समय ऊपर उठ जाती है। वैसे ही सज्जन और साधु-संग से मनुष्य को भगवद्भाव की जितनी भी प्राप्ति हो जाती है, साधु-संग छोड़ देने के उपरान्त वह मनुष्य पूर्ववत् बन जाता है।

८. सरल विश्वास और अकपट भाव रहने से भगवान का लाभ होता है। एक व्यक्ति की किसी साधु से भेंट हुई थी। उसने साधु से विनयपूर्वक उपदेश की प्रार्थना की। साधु बोले,—"भगवान से ही दिल से प्रेम करो।" उस व्यक्ति ने कहा—"न तो भगवान को मैंने कभी देखा है और न उनके विषय में मैं कुछ जानता ही हूँ, फिर उनसे कैसे प्रेम करूँ?" साधु ने पूछा—"इस संसार में तुम्हारा किससे प्रेम है?" उसने कहा—"इस संसार में मेरा कोई नहीं है; केवल एक मेढ़ा है; उसी को मैं प्यार करता हूँ।" साधु बोले—"उस मेढ़े के भीतर ही नारायण विद्यमान हैं, यह जानकर उसी की जी लगाकर सेवा करना और उसी से दिल से प्रेम रखना।" केवल इतना कहकर साधु चले गये। उस व्यक्ति ने भी उस मेढ़े में नारायण हैं, यह विश्वास कर तन-मन से उसकी सेवा करना शुरू की। बहुत दिनों के बाद उस रास्ते से लौटते समय साधु ने उस व्यक्ति को खोजकर पूछा,—"क्यों जी, अब कैसा है?" उस व्यक्ति

ने प्रणाम करके कहा,—"गुरुदेव! आपकी कृपा से मैं अब अच्छा हूँ। आपने जो कहा था उसके अनुसार भावना करने से मेरा बहुत फायदा हुआ है। मैं मेढ़े के भीतर कभी-कभी एक अपूर्व मूर्ति देखता हूँ—उनके चार हाथ हैं—उनका दर्शन कर मैं परमानन्द में डूबा हुआ हूँ।"

९. साधु-संग कैसा है, जानते हो?—जैसा चावल का धोया हुआ जल। जिसको अत्यन्त नशा चढ़ा हो, उसे यदि चावल का धोया हुआ पानी पिला दिया जाय तो नशा उतर जाता है। इसी प्रकार इस संसाररूपी मद से जो मत्त हो रहे हैं, उनका नशा छुड़ाने के लिये एक मात्र उपाय साधु-संग ही है।

साधना में अध्यवसाय

१. रत्नाकर में अनेक रत्न हैं, पर तुमको यदि एक ही डुबकी में रत्न न मिलें तो रत्नाकर को रत्न से रहित मत समझो। इसी प्रकार यदि थोड़ी साधना करने से ईश्वर का दर्शन न हो तो निराश न होना चाहिये। धैर्य से साधना करते रहो, यथासमय ईश्वर की कृपा होगी ही।

२. समुद्र में एक प्रकार की सीप होती है, वह हमेशा ही मुँह खोलकर जल पर तैरती रहती है, परन्तु स्वाति नक्षत्र का एक बूँद जल मुँह में पड़ते ही वह अपना मुँह बन्द कर तुरन्त ही नीचे चली जाती है, फिर ऊपर नहीं आती। वैसे ही मुमुक्ष-विश्वासी साधक भी गुरु-मन्त्ररूपी एक बूँद जल पाकर साधना के अथाह जल में एकदम डूब जाते हैं।

३. किसी ने परमहंस देव के पास आकर कहा, "महाराज!

बहुत दिनों से साधन-भजन में लगा हुआ हूँ, पर कुछ भी तो समझ में नहीं आया; हम लोगों का साधन-भजन करना वृथा है।" परमहंस देव ने मुसकराकर कहा, "देखो, जो खानदानी किसान हैं, वे यदि बारह वर्ष भी अनावृष्टि हो, तो भी हल चलाना नहीं छोड़ते और जो पुश्तैनी किसान नहीं हैं, पर किसानी में बहुत लाभ होता है, इतना सुनकर इस काम में लग जाते हैं वे तो एक ही साल वर्षा न होने से किसानी का काम छोड़कर भाग जाते हैं। वैसे ही जो सच्चे भक्त और विश्वासी होते हैं, वे यदि सरी आयु भर भी ईश्वर का दर्शन न पावें, तो भी उनका नाम और गुणानुवाद करना नहीं छोड़ते।

व्याकुलता

१. भगवान के प्रति मन कैसा होना चाहिये? जैसे सती का मन पति की ओर, कृपण का धन की ओर और विषयी का विषय की ओर होता है; ऐसे ही जिस समय मन भगवान के प्रति हो जाएगा, उसी समय भगवान प्राप्त हो जाएँगे।

२. माँ के पाँच बच्चे हैं। उसने किसी को खिलौना, किसी को गुड़िया और किसी को खाना देकर भुला रखा है। उनमें से जो बच्चा खिलौना फेंककर माँ, माँ कहकर रोने लगता है, माँ झट से उसे गोद में उठाकर शान्त करने लगती है। हे जीव, तुम कामिनी-कांचन में भूले हो। यह सब फेंककर जिस समय ईश्वर के लिये रोने लगोगे, उसी क्षण आकर वे तुम्हें गोद में ले लेंगे।

३. ईसा एक दिन समुद्र के किनारे घूम रहे थे। एक भक्त ने आकर उनसे पूछा, "प्रभो, ईश्वर कैसे मिल सकता है?" उन्होंने तत्क्षण उसे ले जाकर जल में डुबा रखा। कुछ देर बाद हाथ पकड़-

कर, उठाकर उससे पूछा, "तुम्हारी कैसी अवस्था हो रही थी?" भक्त ने उत्तर दिया, "प्राण अब गये, तब गये, ऐसी व्याकुलता हो रही थी।" तब प्रभु ईसा ने कहा, "जब भगवान के लिये तुम्हारे प्राण इतने ही व्याकुल हो जाएँगे, तभी उनके दर्शन होंगे।"

४. भगवान को पाने की व्याकुलता की बात पर परमहंस देव ने कहा कि जब दक्षिणेश्वर के मन्दिर से सन्ध्या की आरती की घन्टी की ध्वनि आती थी तब मैं गंगाजी के किनारे खड़ा होकर रोता रोता चिल्लाकर कहता था, "माँ! दिन तो चला गया, अब भी तुमको देख न पाया।"

५. जिसे प्यास होती है वह क्या गंगाजल को गंदला बताकर तालाब खोदकर अपनी प्यास बुझाता है? इसी प्रकार जिसे धर्म की तृष्णा होती है, वह 'यह धर्म ठीक नहीं है, वह धर्म ठीक नहीं है' इस प्रकार कहकर गोलमाल नहीं करता फिरता। तृष्णा होने पर ये विचार फिर आते ही नहीं।

भक्ति और भाव

१. प्रेम किसको कहते हैं, जानते हो? प्रेम वह अवस्था है जब हरिनाम का उच्चारण करते करते सारे जगत् की विस्मृति तो हो ही जाती है, परन्तु अपना शरीर जो इतना प्यारा है, वह भी भूल जाता है।

२. जिसको भगवान की भक्ति का लाभ हुआ है, उसका कैसा भाव होता है, जानते हो?—मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो; मैं घर हूँ, तुम घरवाले हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो; जैसा कहलाते हो वैसा ही कहता हूँ; जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ; जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ।

३. श्रीभगवान के चरण-कमलों में भक्ति होने से विषयकर्म का आप ही आप त्याग होता रहता है। अन्त में उस पुरुष को विषय-कर्म अच्छे नहीं लगते। जैसे ओला मिश्री का शर्बत पीने से फिर चींटा गुड़ का शर्बत पीना कोई कभी नहीं चाहता।

४. अहिल्या ने प्रार्थना की थी—"हे राम! यदि शूकर-योनि में भी जन्म लेना हो, तो मुझे स्वीकार है, पर तुम्हारे चरणकमलों में मेरी भक्ति और श्रद्धा अचल बनी रहे। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं चाहती।

ध्यान

१. सत्व गुण वालों का ध्यान कैसा होता है, जानते हो? वे रात को मसहरी तानकर उसके भीतर बैठकर ध्यान करते हैं; लोग समझते हैं कि वे सो रहे हैं। उनमें बाहरी दिखावट का भाव है ही नहीं।

२. ध्यान ऐसा करना चाहिये कि जिसमें चित्त ईश्वर में पूर्ण रूप से मग्न हो जाय अर्थात् डाइल्यूट (Dilute) हो जाय। जब सच्चा ध्यान होता है तब बदन पर चिड़ियों के बैठने पर भी मालूम नहीं होता। जब मैं काली माई के मन्दिर के सभा-मण्डप में बैठकर ध्यान करता था, तब वहाँ के लोग मुझसे कहते थे, "आपके बदन पर कई चिड़ियाँ बैठकर क्रीडा किया करती हैं।"

साधना और आहार

१. जो हविष्यान्न खाता है, पर भगवान-लाभ की इच्छा नहीं रखता, उसका हविष्यान्न भी गोमांस के समान ही समझो। दूसरा, जो गोमांस खाता है, परन्तु भगवान की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है उसके लिये गोमांस भी हविष्यान्न के तुल्य होता है।

२. स्वर्गीय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय की सास एक दिन परमहंस देव का दर्शन करने आई थी। परमहंस देव ने उनसे कहा था, "तुम बड़ी अच्छी हो—संसार में रहकर भी भगवान की ओर मन रखा है।" उसने कहा, "ऐसा कहाँ? हमको तो कुछ नहीं हुआ; आज तक भी तो मैं जिस किसी का जूठा नहीं खा सकती हूँ।" परमहंस देव ने कहा, "अरे! तुमने यह क्या कहा? हर एक का जूठा खाने से ही क्या सब कुछ हो जाता है? कुत्ते, गीदड़ आदि सभी की जूठी चीज़ खाते हैं; तो क्या इसी से समझोगी कि उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है?"

भगवत्कृपा

१. जैसे किसी कमरे का हजार वर्षों का अन्धकार एक बार दियासलाई के जलाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार जीव के जन्म-जन्मान्तर के पाप भगवान की एक ही कृपादृष्टि से दूर हो जाते हैं।

२. मलय पवन के लगने से जिन पेड़ों में कुछ सार है, वे सब चन्दन हो जाते हैं; किन्तु असार वृक्ष जैसे बाँस, केला आदि पर कुछ असर नहीं होता। वैसे ही भगवत्कृपा पाकर, जिनमें कुछ सार है, वे मुहूर्त भर में महा साधु-भाव से पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु विषयासक्त असार मनुष्य पर सहज ही कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

३. छोटे छोटे बच्चे अकेले घर में भीतर बैठे अपने आप खिलौने से खेला करते हैं, उनके मन में भय की कोई भावना नहीं होती। किन्तु यदि माँ आ जाय तो अपने सब खिलौने फेंककर 'माँ माँ' कहकर गोद में दौड़ जाते हैं। तुम लोग भी जन, धन, मान, यश के खिलौने लेकर ससार में निश्चिन्त होकर सुख से खेला करते हो,

कोई भय-भावना नहीं होती। यदि आनन्दमयी माँ को तुम लोग एक बार भी देख पाओ तो फिर तुम लोगों को धन, मान, यश अच्छे नहीं लगेंगे, सब फेंककर उसकी गोद में दौड़ जाओगे।

४. बच्चों का कीचड़ में सनना स्वभाव ही होता है, किन्तु माँ-बाप उनको गंदा नहीं रहने देते। ऐसे ही जीव इस माया के संसार में पड़कर कितना ही क्यों न मलिन हो जाय, भगवान उसके शुद्ध होने का भी प्रबन्ध कर देते हैं।

सिद्ध अवस्था

१. लोहे की तलवार को स्पर्शमणि छुलाने से वह सोने की हो जाती है, आकार-प्रकार वैसा ही रहता है किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं हो सकता। ऐसे ही भगवान के पाद-पद्म स्पर्श करने से फिर कोई दुष्कर्म नहीं होता।

२. किसी आदमी ने परमहंस देव से जिज्ञासा की, "सिद्ध पुरुष होने पर कैसी अवस्था हो जाती है?"

उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे आलू, बैंगन सिद्ध हो जाने पर (उबल जाने पर) नरम हो जाते हैं, वैसे ही सिद्ध पुरुष का स्वभाव भी नरम हो जाता है। उनका सब अभिमान चला जाता है।"

३. मुक्त पुरुष संसार में किस अवस्था में रहते हैं, जानते हो? जैसे आँधी में जूठी पत्तल। स्वयं की कोई इच्छा या अभिमान नहीं रहती। हवा उसको जिस तरफ उड़ा ले जाय, उसी तरफ चली जाती है। कभी तो कूड़े के ढेर में और कभी अच्छी जगह में जाती है।

४. पहले अज्ञान, उसके बाद ज्ञान; फिर जब सच्चिदानन्द मिल जाते हैं, तो मनुष्य ज्ञान व अज्ञान दोनों से परे चला जाता है।

जैसे कि शरीर में काँटा चुभ जाने पर एक दूसरा काँटा लाकर उसे निकालते हैं और उसके बाद दोनों काँटों को फेंक देते हैं।

सर्व-धर्म-समन्वय

१. जैसे बिजली की रोशनी आती एक ही स्थान से है, किन्तु शहर में वह नाना स्थानों में नाना रूपों में जलती है; ऐसे ही नाना देश के, नाना जाति के धार्मिक लोग उसी एक ईश्वर से आते हैं, परन्तु नाना देशों में नाना भावों से प्रकट होते हैं।

२. छत के ऊपर जाने के लिये जैसे जीना, बाँस, सीढ़ी आदि नाना उपाय हैं, ऐसे ही एक ईश्वर की गोद में पहुँचने के लिये अनेक उपाय हैं। प्रत्येक धर्म ही एक एक उपाय है।

३. ईश्वर तो एक है, पर उनके नाम और भाव अनन्त हैं। जो जिस नाम व भाव से उसकी आराधना करते हैं, वह उसी नाम व भाव से उसे दर्शन देता है।

४. जितने मत हैं उतने ही पथ हैं। जैसे इस मन्दिर में आने के लिये कोई नाव में, कोई गाड़ी में और कोई पैदल आता है, ऐसे ही भिन्न-भिन्न मतों के द्वारा भिन्न-भिन्न लोगों को सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है।

५. माँ का प्यार सब बच्चों के प्रति समान रहता है, किन्तु किसी बच्चे को पूरी, किसी को खील और बताशा—ऐसे ही जिसे जो खाना आवश्यक समझती है, देती है। इसी तरह भगवान भी विभिन्न साधक की शक्ति और अवस्था को देखकर साधना की व्यवस्था कर देते हैं।

६. महात्मा केशवचन्द्र सेन ने परमहंस देव से पूछा, "भग-

वान तो एक है, फिर धर्म-सम्प्रदायों में इतना पारस्परिक वाद-विवाद क्यों दिखाई पड़ता है?" परमहंस देव ने उत्तर दिया, "जैसे इस पृथ्वी पर लोग, 'यह हमारी जमीन और यह हमारा घर है, कहकर उसे घेरकर बैठ जाते हैं, किन्तु ऊपर वही एक अनन्त आकाश है, उसे कोई नहीं घेर सकता, ऐसे ही लोग अज्ञानवश अपने अपने धर्म को श्रेष्ठ बताकर बेकार गोलमाल किया करते हैं। जब ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब परस्पर विवाद नहीं रह जाता।

७. हिन्दुओं में नाना मत की कथायें पाई जाती हैं, इनमें से हमारे लिये कौन श्रेयस्कर हैं? हम कौन मत ग्रहण करें? पार्वतीजी ने शिव भगवान से प्रश्न किया, "भगवन्, सच्चिदानन्द रूप की चाभी कहाँ है?" महादेवजी ने उत्तर दिया, "विश्वास।" मतों में कुछ नहीं रखा है। जो जिस किसी भी मंत्र में दीक्षित हो उसी का वह विश्वास सहित साधन करे।

८. जैसे जल एक पदार्थ है—देश, काल और पात्र के भेद से उसके भिन्न भिन्न नाम हो जाते हैं। हिन्दी में जल कहते हैं, उर्दू में पानी कहते हैं, अंग्रेजी में 'वाटर' कहते हैं। एक दूसरे की भाषा न जानने के कारण कोई किसी की बात नहीं समझ पाता, किन्तु जानने पर भाव में किसी तरह का भेद नहीं रहता।

९. भगवान का नाम व ध्यान करो, चाहे जैसे करो, होगा उससे कल्याण ही। मिश्री की थाल चाहे सीधी करके खाओ, चाहे आड़ी ओर से खाओ, लगेगी वह मीठी ही।

कर्मफल

१. पाप और पारा कोई नहीं पचा सकता। यदि कोई छिपा-

कर पारा खा लेवे तो किसी न किसी दिन वह शरीर से भी फूट निकलेगा। पाप करने से भी वैसे ही उसका फल एक न एक दिन निश्चय ही भोगना पड़ेगा।

२. रेशम के कीड़े जैसे अपनी लार से अपना घर बनाकर आप ही उसमें फँसते हैं वैसे ही संसार के जीव भी अपने कर्म-पाश में आप ही आप फँस जाते हैं। जब रेशम के कीड़े तीतली हो जाते हैं, तब घर को काटकर निकल आते हैं; वैसे ही विवेक और वैराग्य के उदय होने पर बद्ध जीव भी मुक्त हो जाता है।

युगधर्म

१. परमहंस देव सदा कहा करते थे – "ताली बजा बजाकर सायं प्रातः हरिनाम कीर्तन करो। इससे सब पाप ताप चले जायँगे। जैसे पेड़ के नीचे जाकर ताली बजाने से सब पक्षी उड़ जाते हैं, ऐसे ही ताली बजाकर नाम-कीर्तन करने से भी देहरूपी वृक्ष के अविद्यारूपी पक्षी उड़ जाते हैं।

२. पहले सीधा साधा ज्वर होता था तो सामान्य काढा इत्यादि से ठीक कर लेते थे, परन्तु जब मलेरिया ज्वर आरम्भ हुआ तो कुनैन आदि की पेटेण्ट दवाइयों का जन्म हुआ। पहले लोग योग-याग, तपस्या करते थे। अब कलियुग में जीवों का प्राण अन्नगत है, मन दुर्बल है। एक हरिनाम ही एकाग्र होकर जपने से सब संसार की व्याधियों का नाश हो जाता है।

३. जान में या अनजान में अथवा भ्रान्ति में किसी भी तरह भगवान का नाम लेने से फल होगा। चाहे कोई तेल मलकर खुद नहाने जाय, या किसी को जल में धक्का देकर गिराया जाय, स्नान

दोनों ही तरह हो जायगा और घर में कोई सोया है, उसके शरीर पर जल फेंक दो, तो उसका भी स्नान हो जायगा।

४. इस कलियुग में नारद का भक्तिमत ही प्रशस्त है। अन्यान्य युगों में नाना प्रकार की कठोर साधना के नियम थे। उन सब साधनाओं से इस युग में सिद्धि लाभ करना बड़ा ही कठिन है। एक तो जीव की आयु ही परम अल्प है; फिर उसे मलेरिया आदि अनेक रोग वश में कर लेते हैं, वह भला कठोर तपस्या किस तरह करेगा?

धर्मप्रचार

१. आत्महत्या करनी हो तो एक नहरनी ही पर्याप्त होती है, पर दूसरे को मारने के लिये ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है। ऐसे ही लोक-शिक्षा देनी हो तो बहुत से शास्त्र पढ़ने पड़ते हैं और अनेक तर्क-युक्तियों से विचार करके समझाना पड़ता है; परन्तु निज का धर्मलाभ केवल एक ही बात पर विश्वास करने से हो जाता है।

२. कामारपुकुर में लोग जब धान की नापतोल करते हैं, तब एक आदमी तो नापता रहता है और दूसरा पीछे खड़ा रहता है। जब जब आगे धान के ढेर में कमी होने लगती है तब वह पीछे के ढेर से धान को ढकेलकर सामने करता जाता है। इसी प्रकार जो लोग सच्चे साधु या भक्त होते हैं, उनके ईश्वरीय गुणानुवाद में कमी होते ही भीतर से नये नये भाव पैदा होते जाते हैं और इस प्रकार उनके भावों में कमी नहीं होने पाती।

३. यथार्थ प्रचार कैसे होता है, जानते हो?—लोगों को भजन के उपदेश न देकर स्वयं भजन करे तो यह सबसे अच्छा प्रचार होता है। जो स्वयं मुक्त होने की चेष्टा करते हैं वे ही वास्तव

में प्रचार करते हैं। जो स्वयं मुक्त हो चुके हैं, उनके पास सैकड़ों लोग आप ही आप न मालूम कहाँ से आ जाते हैं और उनसे शिक्षा लेते हैं। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त-रूप से परमहंस देव कहा करते थे, "फूल खिलने पर भौंरे आप ही आप आ जाते हैं।"

संघ

"यह संघ भगवान श्रीरामकृष्ण देव का प्रत्यक्ष शरीर है और इस संघ में वे सदैव विद्यमान हैं।"

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-संघ

(स्वामी शिवानन्द)

श्रीरामकृष्ण की सन्तानो,

श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन के इस पहले महासम्मेलन में भारत के भीतर और बाहर के प्रतिनिधियों को अपने मूल केन्द्र इस बेलुड़ मठ में आया देख, आज हमारे हृदय में एक अपूर्व उत्साह और आनन्द का संचार हो रहा है। श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन के इतिहास में इस प्रकार के महासम्मेलन का यही प्रथम अवसर है। हमारा पूर्ण विश्वास है—इस महासम्मेलन में तुम लोग जिन विभिन्न आश्रमों के प्रतिनिधि होकर आये हो, उन आश्रमों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के विषय में एक दूसरे को परिचित कराने तथा परस्पर के भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान कर अपने अपने आश्रमों के कार्यों की परिपुष्टि करने में समर्थ होगे और भगवान श्रीरामकृष्ण देव के जो कई साक्षात् शिष्य अब भी स्थूल शरीर में विद्यमान हैं उनके श्रीमुखों से उस आध्यात्मिक आदर्श की बातें सुनोगे, जिन्हें भगवान श्रीरामकृष्ण अपने जीवन में दिखा गये हैं। साथ ही उस आदर्श का विशेष रूप से परिचय पाने से इस संघ या संस्था के उद्देश्य में जिस एकता और सहयोगिता की आवश्यकता है, वह भी पूरी होगी और एकता आदि की दिनोंदिन वृद्धि होने में सहायता मिलेगी।

आज यदि श्री स्वामी विवेकानन्द जीवित होते, तो वे अवश्य ही तुम लोगों की बड़े उत्साह और आदर के साथ अभ्यर्थना करते;

और तुम लोगों की आलोचना के फल स्वरूप, जिसमें इस सम्मेलन के उद्देश्य सिद्ध हों, उसके लिये हृदय आशीर्वाद की वर्षा करते। इसी प्रसंग में एक और महात्मा की बात याद आती है, जिन्हें श्रीरामकृष्ण देव आध्यात्मिक तत्वों की उपलब्धि के अधिकारी के लेखे ठीक स्वामी विवेकानन्द के बाद ही स्थान देते थे। मैं स्वामी ब्रह्मानन्द के विषय में कहता हूँ। जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने स्वामीजी को समग्र संसार में अपने भावों के प्रचार करने के लिये चुना था, उसी प्रकार स्वामी ब्रह्मानन्द के ऊपर उन्होंने अपने धर्म-संघ का एक बड़ा ही दायित्वपूर्ण कार्य सौंपा था। वास्तव में बात यह है, कि वराहनगर वाले मठ में बीज के रूप में जो छोटी सी संस्था स्थापित हुई थी, वही श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन के प्रथम सभापति राजा महाराज* के नेतृत्व में अब एक विशाल छाया-समन्वित वृक्ष के रूप में परिणत हो गई है। पिता जिस प्रकार सन्तान का लालन-पालन कर, उसे शैशव से संसार-संग्राम के योग्य शिक्षित युवक के रूप में परिणत करता है, ठीक उसी प्रकार उन्होंने भी मठ के संगठन और विस्तार के लिये किया है। हम आज यहाँ एकत्रित होकर इनका — और केवल इन्हीं लोगों का क्यों, स्वामी प्रेमा-नन्द, स्वामी रामकृष्णानन्द तथा और भी अनेकों का अभाव विशेष रूप से अनुभव कर रहे हैं। हमारी संस्था इन लोगों की भी कुछ कम ऋणी नहीं है — संस्था के वर्तमान प्रसार, संगठन और उन्नति के लिये इन्होंने भी बहुत कुछ किया है। आज इस शुभ अवसर पर, इस सम्मेलन के उपलक्ष्य में इन सब लोगों के और सर्वोपरि हमारे

* स्वामी ब्रह्मानन्द

गुरुमहाराज के मङ्गल आशीर्वचनों की वर्षा हो, मैं सबसे पहले यही हार्दिक प्रार्थना करता हूँ।

मैं तुम लोगों को यह बतलाने के लिये नहीं खड़ा हुआ हूँ कि किस प्रकार इस महासम्मेलन का मूल उद्देश्य सिद्ध होगा—अर्थात् किस प्रकार सारे आश्रमों और प्रतिष्ठानों के बीच परस्पर सहयोगिता और सद्भाव बढ़े, और न इस विषय में छोटी-मोटी बातों का विचार कर मैं कोई निश्चित कार्य-प्रणाली ही निर्दिष्ट करना चाहता हूँ। अपने जीवन का अधिकांश समय संघ के साथ बिताकर जो कुछ मैं समझ सका हूँ, मैं उसी सामान्य अभिज्ञता के सहारे दो चार साधारण बातें कहूँगा, और तुम लोगों में परस्पर भावों का आदान-प्रदान होने के फल स्वरूप इस सम्मेलन के सफल होने में मुझसे यदि थोड़ी भी सहायता मिलेगी, तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।

तीस वर्ष पहले, जब भारत के भीतर और बाहर रामकृष्ण संघ की विभिन्न कार्यप्रणाली भविष्य के गर्भ की बात थी, जब लोग केवल इतना ही जानते थे कि स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के एक प्रचारक हैं और शिकागो की धर्म-महासभा में उन्होंने सनातन धर्म की विजय-पताका फहराई है, तब स्वामीजी ने त्रिकाल-दर्शी ऋषि की दिव्य दृष्टि से देख लिया था कि समग्र संसार में युग-चक्र के परिवर्तन का समय आ गया है और उनके गुरुदेव की महान् शक्तिशालिनी उपदेश-वाणी समग्र मानव-जाति पर एक अपूर्व प्रभाव विस्तार कर इस युग-चक्र के परिवर्तन में विशेष रूप से सहायता करेगी। जिस दिन उनके गुरुदेव ने, अपूर्व भावावेश में डूब, उनके दिन-रात समाधिस्थ रहने की प्रार्थना पर कहा था, "समाधि तो साधारण छोटी सी वस्तु है

—संसार दुःख, शोक और पाप से जर्जर हो रहा है, और तू समाधि-सुख में डूबा रहना चाहता है? ले, बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद जो कुछ भी मैं पा सका था, आज वह सब मुट्ठी खोलकर तुझे देकर फकीर हो रहा हूँ!"—इस प्रकार जिस दिन श्रीरामकृष्ण देव ने अपने योग्यतम शिष्य को अपनी सारी साधनाओं का फल प्रदान करके, संसार के महान् ऐतिहासिक स्वर्णावसर पर समस्त संसार में धर्मरत्न बाँटने का एक साधन बना लिया—केवल भगवान को सब भूतों में देखकर 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' जीवन उत्सर्ग करने की, समग्र जगत् के कल्याण और सुख के लिए अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति विसर्जन करने की शिक्षा दी थी—उस चिर-स्मरणीय दिन की बात उनके हृदय में सदैव जाग्रत रहती थी।

स्वामीजी ने अपने गुरुदेव की महासमाधि के कुछ काल के पश्चात् जगत् का सब प्रकार से कल्याण करने के उद्देश्य से अपने देशवासीयों के लिये एक नई भाव-धारा प्रवाहित की। वह प्रवाह, उनके जीवन में जो अनेक प्रकार की अपूर्व अनुभूतियाँ और अभिज्ञ-ताएँ सञ्चित हुई थीं, उन्हीं का स्वाभाविक उच्छ्वास था। किन किन विशेष शक्तियों के प्रभाव से उनकी दृष्टि एक अपूर्व, नवीन, दिव्य जगत् के देखने में समर्थ हुई थी, इस पर विचार करने से हमें निम्नलिखित बातें दिखाई देती हैं।

(१) उनके विषय में उनके गुरुदेव की भविष्यवाणी, (२) उनकी स्वार्जित बहुवर्षव्यापी शिक्षा, कठोर साधना और उससे होने-वाली उपलब्धियाँ, (२) पाश्चात्य दर्शन और इतिहास तथा संस्कृत धर्मग्रन्थों में समान प्रवेश और ज्ञान, (४) श्रीगुरुदेव के अलौकिक

जीवन का रात-दिन मनन करना, उसकी अलौकिक प्रभा से व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं तथा शङ्काओं का समाधान तथा शास्त्रों की सत्यता का प्रत्यक्षीकरण और (५) अपनी मातृभूमि में सर्वत्र भ्रमण करने के कारण प्राचीन और अर्वाचीन भारत का तुलनात्मक ज्ञान, वर्तमान काल के भारतवासी स्त्री-पुरुषों के जीवन-निर्वाह का ढंग, उनके आचार-व्यवहार, उनका विश्वास, उनकी कमी, उनकी चिन्ता-प्रणाली इत्यादि बातों का भलीभाँति पर्यवेक्षण।

राजा-प्रजा, साधु-पण्डित सब के साथ समान भाव से मिलकर उन्होंने सारे भारत को एक समष्टि-रूप में देखा, और देखा कि अपने गुरुदेव का जीवन मानो उस महान् भारत की पुञ्जीकृत छोटी सी प्रतिमूर्ति मात्र है। इसी से स्वामीजी के जीवन और कार्य में गुरु, शास्त्र और मातृभूमि —— इन तीनों विभिन्न स्वरों ने मिलकर मानो एक अपूर्व एकतान संगीत की सृष्टि की है। इसीलिये तो वे समस्त जगत् को ये ही तीन रत्न लुटाने के लिये तैयार हुए।

उपर्युक्त ज्ञानार्जन के फल से वे समझ गये, कि संसार में कौन-कौन सी विरोधात्मक भेदकारी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं — जिनका उच्छेद कर समन्वय करने के लिये इस युग में अवतार के आविर्भाव की आवश्यकता हुई थी। संसार के विभिन्न धर्मों के अन्तर्गत जो तुच्छ परन्तु प्रबल मूढ़ता पैठी हुई है, उसी की ओर सब से पहले उनका ध्यान आकर्षित हुआ। केवल यही नहीं, उन्होंने देखा कि धर्म के विषय में लोगों के विचार अत्यन्त संकीर्ण हैं। प्राचीन ऋषि-मुनि भिन्न-भिन्न धर्म-मतों को एक ही सत्य की उपलब्धि के विभिन्न मार्ग मात्र समझते थे —— उन्होंने देखा कि आजकल एक धर्ममत

वाले दूसरे धर्मावलम्बियों के साथ लड़ने-झगड़ने को मानो चौबीस घण्टे कमर कसे रहते हैं। कूपमण्डूक की तरह एक सम्प्रदाय वाले अपनी संकीर्ण सीमा का परित्याग कर और किसी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। दूसरे धर्म के विषय में लोगों की धारणा ही अत्यन्त संकीर्ण हो गई है — मानो धर्म ही स्वयं सब प्रकार की चेष्टाओं की सीमा के बाहर होकर शिक्षित और उदारहृदय व्यक्तियों की दृष्टि में एक अवज्ञा की वस्तु-सी हो रही है। आज हम लोगों की धारणा हो गई है कि धर्म के साथ वास्तव जगत् का तथा हमारे दैनिक जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिये उसका अनुष्ठान केवल उन्हें ही करना चाहिये, जो समाज से बाहर हो गये हैं, जो संन्यासी हैं और जो लोकालय छोड़कर जंगलों में रहते हैं। लोग समझते हैं, वेदान्त के उच्चतम उपदेशों के साथ कर्म का कभी समन्वय नहीं हो सकता। कर्म और उपासना — त्याग और सेवा-धर्म के बीच में जमीन-आसमान का अन्तर स्थापित किया गया है। और इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा के फल से ही प्रधानतः हमारे देश का जातीय अधःपतन हुआ है। ऐसी संकटमय अवस्था में संसार में एक ऐसे व्यक्ति के आविर्भूत होने की आवश्यकता उपस्थित हुई थी जो संसार के आगे ऐसे धर्म की व्याख्या करें जो विज्ञानसंगत हो और ऐसे विज्ञान का प्रचार करें जो आध्यात्मिक भाव से भरा हुआ हो।

स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट ही देखा कि ऐसे आदर्श महापुरुष उनके श्री गुरुदेव ही हैं। उनके जीवन में सब प्रकार के विरोधात्मक भावों का अपूर्व समन्वय हुआ है। जिन धर्ममतों में सिर से पैर तक परस्पर विरोध है, उनमें भी अजीब ढंग से मिलाप होते उन्होंने अपने

गुरुदेव में ही देखा। पहले श्रीरामकृष्ण देव ने स्वयं अपने जीवन में दिखाकर प्रमाणित किया कि जो आदर्श सब तरह के दार्शनिक मतवादों के परे है वहाँ पहुँचने से द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत — ये तीनों ही मुख्य भारतीय दार्शनिक मतवाद समान उपयोगी हैं। इसके बाद प्रचलित विभिन्न धर्ममतों की अर्थात् सनातन धर्म की शक्ति, वैष्णव आदि कई एक शाखाओं तथा ईसाई और मुस्लिम धर्मों की साधना कर इसी लक्ष्य पर पहुँचकर उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि ये सभी धर्ममत सत्य हैं और हर एक की सार्थकता है — अन्तर केवल इतना ही है कि वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए उपयोगी हैं। प्राचीन समय में वैदिक ऋषियों ने अपनी दृष्टि से "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (सत्य एक ही है — पण्डित लोग उसका नाना प्रकार से वर्णन करते हैं), इस महामन्त्र को देख पाया था; लोग इसे बहुत दिनों तक भूले हुए थे। आज श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में उस सनातन सत्य का फिर से दर्शन पाकर लोग धन्य हो गये। ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—इन परस्पर विरोधी दिखनेवाले भावों का श्रीरामकृष्ण के जीवन में अपूर्व समन्वय देखकर लोग कृतार्थ हो गये। निर्विकल्प समाधि जिनकी मुट्ठी के भीतर रहा करती थी, जो जी में आते ही कभी भी समाधिस्थ हो जाते थे, वे ही फिर भगवान का नाम लेते ही बच्चों की भाँति रो देते थे। जिन्होंने योग-मार्ग जैसे जटिल पंथ का अवलम्बन कर सत्य का साक्षात्कार किया था, उन्होंने फिर अपनी अपूर्व साधना का फल योग्य अधिकारी को देते हुए कठोर कर्मव्रत का अवलम्बन किया; और उस व्रत के निभाने में अपने जीवन की, तिल-तिल करके

आहुति दे दी। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न नर-देवता का साक्षात्कार होने के कारण उनके योग्य शिष्य का हृदय उनकी ओर बड़े वेग से आकृष्ट हुआ। उन्होंने स्पष्ट रूप से देखा, और स्पष्ट रूप से समझा कि यदि समस्त संसार पर उनके श्रीगुरुदेव की प्रतिभा की छाप पड़ जायगी, तो भविष्य में वह फिर नया जीवन प्राप्त करेगा—वह फिर से जाग उठेगा।

प्राचीन भारत के बौद्धसंघ की याद कर और वर्तमान उन्नतिशील पाश्चात्य जगत् के देश-विदेश में जा, वहाँ की आश्चर्यजनक संघबद्ध कार्य-प्रणाली को देखकर ही सम्भवत: स्वामीजी के मन में श्रीगुरुदेव की उपदेशावली का कर्म-जीवन में प्रयोग करने के उपयुक्त क्षेत्र-स्वरूप मठ और मिशन की कल्पना का उदय हुआ होगा। उन्होंने शायद सोचा होगा कि यदि सुनिर्दिष्ट साधना-प्रणालियों तथा नियमों से काम लिया जाय, तो एक ऐसा कर्मक्षेत्र तैयार हो जायगा, जो उनके श्रीगुरुदेव की छाया की भाँति एक विराट संस्था के रूप में परिणत हो जायगा। स्वामी विवेकानन्द जिस प्रकार एक ओर उच्च कोटि के भावुक व्यक्ति थे, उसी प्रकार दूसरी ओर अपने उच्च भावों को कार्यान्वित करने में भी कुशल थे। इसीलिए पाश्चात्य देशों से भारत लौटते ही उन्होंने मठ-रूपी एक ऐसा आदर्श स्थापित करने की कल्पना की जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष सभी श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और विचारों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से देख सकें। इस कल्पना से उनके मन की मौलिकता और साहसिकता का सुन्दर परिचय मिलता है।

सन् १८९९ ई० में बेलुड़ मठ की स्थापना के कुछ ही पहले

'मठ की नियमावली' के नाम से अपने मन के जिन भावों को स्वामीजी ने लिपिबद्ध किया था, उनके आरम्भ में ही हम ये बातें पाते हैं:—

"भगवान श्रीरामकृष्ण द्वारा बनाई गई प्रणाली का अवलम्बन कर अपने लिये मुक्ति प्राप्त करने तथा संसार का सब प्रकार कल्याण करने की शिक्षा पाने के उद्देश्य से इस मठ की स्थापना की गई। स्त्रियों के लिये भी इसी प्रकार का एक मठ स्थापित किया जायगा।"

यही उनकी मठ-स्थापना के आदर्श की पहली बात है। यों तो यह बहुत ही मामूली-सी बात जान पड़ती है, पर थोड़ा ध्यान देने पर मालूम होगा कि वास्तव में यह कितनी सार-गर्भित है। मठ और मिशन के अंग जहाँ जिस प्रकार और जो कुछ भी काम कर रहे हैं, उन सब फैले हुए श्रीरामकृष्णसंघों की — सारी श्रीरामकृष्ण-संस्थाओं की — नींव यही है, यही उनका एक मात्र स्तम्भ-स्वरूप है।

स्वामीजी के इस वाक्य पर कुछ और विचार कर देखें। पहले ही यह देखने में आता है कि स्वामीजी ने इस एक ही वाक्य में अपनी मुक्ति और संसार का कल्याण-साधन — देखने में इन दो विरोधी भावों को एक ही साथ गूँथ रखा है। लोग साधारणत: समझते हैं, त्याग और सेवा, कर्म और उपासना एक साथ नहीं रह सकते, इनका परस्पर विरोध है! एक का प्राबल्य दूसरे के विकास में विघ्न डालेगा; पर स्वामीजी ने मठ की स्थापना करके इन दोनों, दिखने में विरोधी भावों का समन्वय करने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार व्यक्तिगत मुक्ति-लाभ करने की चेष्टा समग्र मानव-जाति की सेवा करने का कभी विरोध नहीं कर सकती। फिर सेवा-विषय को साधा-

रण भाव से देखकर यदि उसके चरम आदर्श की बात को सोचा जाय, तो जो व्यक्ति अपनी आत्मा-रूपी सत्य-सूर्य के ऊपर पड़े हुए कोहरे को साफ करने के लिए कमर कसे तैयार हैं, उनके भाव और आदर्श सेवक के भाव में कोई भेद नहीं दिखाई देगा। यदि उच्चतम ज्ञान का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा के बीच से सब तरह के भेद-भावों को दूर कर देना हो—और यदि अपनी आत्मा के साथ सर्वत्र, समस्त भूतों में अवस्थित ब्रह्म को एकाकार करना ही चरम लक्ष्य हो, तो यह सरलता से समझ में आ जाता है कि जब साधक उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करता है, तब भूतमात्र की मन, वचन और कर्म से सेवा करने में अपने को निछावर करने के अतिरिक्त उसके लिए और कोई गति नहीं रह जाती। अज्ञान से पैदा होनेवाले क्षुद्र भावों को पार कर वह समग्र संसार को प्रेम से गले लगाता है। यही उसका सर्वोच्च दिव्य आत्म-त्याग है। स्वामीजी चाहते थे कि उनके मठ के साधुगण कार्य-सिद्धि के लिये श्रीभगवान के हाथों में स्वेच्छापूर्वक अपने आप को यन्त्रवत् छोड़ दें—जब उनका कार्य समाप्त होगा तब वे आप ही अपने दिव्य ज्ञान द्वारा प्राप्त परमानन्द के भागी बनेंगे। श्रीरामकृष्ण देव भी बार-बार हम लोगों से कहा करते थे—"अकेले मीठा आम खाकर मुँह पोंछ डालने की अपेक्षा और भी पाँच आदमियों को बाँटकर खाना बहुत अच्छा है।"

साधारण रूप से विचार करने पर भी हम देखते हैं कि स्वामीजी एक ऐसे संघ का, एक ऐसी संस्था का आदर्श चित्रित कर रहे हैं, जिसके किसी अङ्ग में ज़रा भी कसर न रहे, जो अपने भावों की सिद्धि का प्रत्येक सुभीता पाये। हम देखते हैं, उनके इस संघ

के आदर्श में किंचित् मात्र भी कहीं से कोर-कसर नहीं है—वह सब तरह की भाव-सम्पदा से समृद्ध है। उनके द्वारा चित्रित इस संघ के आदर्श की बात सोचने पर सचमुच यही जान पड़ता है कि स्वामीजी बहुत बड़े आचार्य थे। उनके मत से उस मठ के प्रत्येक साधक को ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—इन चार प्रसिद्ध साधनाओं की अपने जीवन में एक साथ ही साधना करनी होगी—हाँ, रुचि और अधिकार के अनुसार जिसकी जिधर स्वाभाविक गति हो, उसे उधर कुछ अधिक ध्यान देना उचित है। पर इनमें से किसी एक को छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। उनकी बनाई हुई मठ की नियमावली में कुछ आगे चलकर हम देखते हैं, कि मठ के साधुओं को एक ओर जैसे ध्यान, धारणा और उपासना करने का वे आदेश देते हैं, दूसरी ओर वैसे ही उनके लिये विद्या-चर्चा और कार्य की भी व्यवस्था करते हैं। उनकी बताई हुई साधना-प्रणालियों में इन दो भावों का अपूर्व समन्वय करने की चेष्टा सर्वत्र देखने में आती है। स्वामीजी की राय थी कि मठ की कार्यप्रणाली संकीर्ण न हो, बल्कि वह बहुत प्रकार के कल्याणप्रद मार्गों से चले। यह बात स्वामीजी के नीचे लिखे शब्दों से स्पष्ट ही जानी जाती है:—

"इस प्रकार समग्र संसार में मठों की स्थापना करनी होगी। किसी देश में आध्यात्मिक भावों के प्रचार की आवश्यकता है, तो किसी देश में कुछ इहलौकिक सुख-स्वच्छन्दता की आवश्यकता है। इस प्रकार जिस जाति या व्यक्ति में जिस बात का बहुत ही अभाव हो, उसे दूर कर उसी मार्ग से होकर उसे धर्म-राज्य में ले चलना होगा। भारतवर्ष के लिये हमारा सब से प्रथम तथा मुख्य कर्तव्य

है – निम्न श्रेणी के लोगों में विद्या और धर्म का प्रचार करना। रोटी का प्रश्न हल किये बिना भूखे मनुष्य धार्मिक नहीं बनाये जा सकते। यह एकदम असम्भव है। अतएव लोगों को रोटी का प्रश्न हल करने का नया मार्ग बताना सबसे मुख्य और सबसे पहला कर्तव्य है।

स्वामीजी के इस सीधे-सादे वाक्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मठ के साधुओं के लिये वे जिन आध्यात्मिक साधनाओं की बात बता गये हैं, उनमें जीव-रूपी नारायण की सेवा सब से मुख्य है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के जो भक्त स्वामीजी को उनके उपदेशों और जीवन का भाष्यकार मानते हैं, और जो ध्यान-धारणा की सहायता से इस जीवन में ही परमात्मा के दर्शन के प्रार्थी हैं, उन्हें जिन कार्यों को वे अपनी अभीष्ट-सिद्धि के मार्ग के एकदम बाहर समझते हैं, और इतने दिनों तक जो कार्य केवल सांसारिक झंझट समझे जाते थे, वे सब कार्य अवश्य करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता का आदेश है कि केवल कर्म ही मनुष्य को उन्नत या अवनत नहीं कर सकता – मनुष्य किस भाव से कार्य करता है, इसकी ओर भी दृष्टि रखनी होगी और यह भाव ही तुम्हें या तो बन्धन में डालेगा, तुम्हारी अवनति करेगा या वही तुम्हें उन्नति और मुक्ति की ओर ले जायगा। यह बात भी युक्तिसंगत है कि यदि भक्ति और प्रेम की सहायता से साधक केवल एक प्रतिमा में ईश्वर की सत्ता का दर्शन पा सकता है, तो यदि वह उतनी ही भक्ति और प्रेम से मनुष्य की उपासना करे — चेतन मनुष्य अवश्य ही जड़ वस्तु से श्रेष्ठ है — तो निश्चय ही वह और भी सुगमता से भगवत्प्राप्ति कर सकता है। मनुष्य ही तो भगवान की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ जीव है और नर-नारायण की उपासना ही तो

संसार में उच्चतम कोटि की उपासना है। इसमें क्या कोई सन्देह हो सकता है?

यही तो स्वामीजी की साधना के आदर्श का मूल मन्त्र है। इसी का अवलम्बन कर कुछ और आगे बढ़कर स्वामीजी अपने मठ की कार्य-प्रणाली के विषय में एक बात और कहते हैं—उनकी राय में निम्नोक्त कार्य-प्रणाली का धीरे-धीरे अवलम्बन करने पर उनके भाव बहुत कुछ कार्य में परिणत हो सकेंगे। स्वामीजी ने कहा है:—

"अब उद्देश्य यह है कि इस मठ को धीरे-धीरे एक सर्वांगसुन्दर विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करें। उसमें दर्शन-शास्त्र तथा धर्म की शिक्षा के साथ ही साथ एक औद्योगिक विद्यालय (Technical Institute) भी रखना होगा। यह पहला कर्तव्य है। बाद को उसके अन्यान्य अङ्गों की परिपुष्टि होती रहेगी।"

ओह! कितनी विराट, कैसी जबरदस्त कल्पना है!

प्राचीन काल से चले आये हुए धर्म के आदर्श में कर्म के लिये एकदम स्थान नहीं है। पर यहाँ तो उस आदर्श को कायम रखने की रत्ती-भर भी चेष्टा नहीं दिखाई देती। स्वामीजी अपने देशवासियों को जो शिक्षा दे गये है, यहीं पर उसकी विशेषता है। पुराने जमाने में ऐसी संस्थाओं की बराबर बुरी अवस्था होती देखी गई है। इन संस्थाओं की भी जिसमें वैसी ही शोचनीय दशा न होने पाये, इस उद्देश्य से स्वामीजी का अपने मठों के अध्यक्षों से कहना है कि:—

"इसलिये जो लोग वर्तमान समय में इस मठ के अध्यक्ष हैं और जो आगे होनेवाले हैं, वे सभी यह बात सदा स्मरण रखें कि

यह मठ किसी तरह बाबाजी लोगों की ठाकुर-बाड़ी के रूप में परिणत न होने पाये।

"ठाकुर-बाड़ी से अवश्य दो-चार आदमियों को थोड़ा-बहुत लाभ होता है, पाँच-दस का कौतूहल दूर होता है, पर स्मरण रहे, यह मठ तो सारे संसार का कल्याण करनेवाला है।"

स्वामी विवेकानन्द ने उपर्युक्त भाव की नींव डालकर इस पर मठ की स्थापना की।

जो मठ ऐसे उच्च आदर्श की नींव पर स्थापित हुआ है, जिस पर इसके इष्ट-देवता भगवान श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की झलक दिखाई देती है, वह उदारता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हो, तो इसमें आश्चर्य या सन्देह की कौनसी बात है? समग्र मानव-जाति ने ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म के अपूर्व समन्वय-स्वरूप श्रीरामकृष्ण के जीवन के जोड़ का कोई दूसरा जीवन नहीं देखा है। इसलिये जिन लोगों ने श्रीरामकृष्ण देव के चरित्र के साँचे में अपने आप को ढाला है अथवा जो तदनुरूप अपना चरित्र गठित करने में समर्थ हुए हैं, केवल वे ही लोग मठ के भावों से प्रभावित समझे जा सकते हैं। स्वामीजी ने इसी बात को ध्यान में रखते हुये कहा है—

"ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—इन चारों की समष्टि से चरित्र गढ़ना ही इस मठ का प्रधान उद्देश्य है। इसके लिये जिन साधनाओं की आवश्यकता है, वे ही इस मठ की साधनाएँ समझी जायँगी।"

इसीलिये वे दृढ़ता के साथ कहते हैं:—

"अतएव सबको स्मरण रखना चाहिये कि जिसमें इन चारों

में से किसी एक की कमी है उसका चरित्र श्रीरामकृष्ण-रूपी साँचे में ठीक-ठीक नहीं ढाला गया है।

"और यह भी एक बात याद रखने की आवश्यकता है कि जो अपनी मुक्ति की चेष्टा करते हैं, उनकी अपेक्षा वे पुरुष महान् हैं, जो दूसरों के कल्याण की चेष्टा करते हैं।"

यही इस मठ की विशेषता है।

श्रीरामकृष्ण देव का आविर्भाव होने के पहले लोग समझते थे कि प्रत्येक मठ में किसी एक ही साधना-प्रणाली का अनुष्ठान हुआ करता है। लोगों का पक्का विश्वास था कि ऐसा होना अनिवार्य है। परन्तु द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इन तीनों प्रधान भारतीय दार्शनिक तत्वों को एक ही अनन्त ब्रह्मसत्ता की त्रिविध अनुभूति के रूप में देखकर भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने अतीन्द्रिय आध्यात्मिक अनुभूति की दृढ़ नींव के ऊपर एक ऐसे मठ की स्थापना करना सम्भव कर दिया, जहाँ से उस निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि के उपाय-स्वरूप इन तीनों दार्शनिक मतों की समान सार्थकता उच्च कण्ठ से घोषित की जा सके। किसी एक ओर अधिक झुकाव होने से मठ के अन्दर कुछ एक-दो त्रुटियों का प्रवेश हो जाना अनिर्वाय है—इसी कारण, जिसमें यह दोष न आने पाये, स्वामीजी मस्तिष्क, हृदय और हाथ—इन तीनों से काम लेने के लिए समान भाव से ज़ोर देते थे। वे जानते थे कि यदि कर्म के साथ धर्म-भाव की प्रेरणा न हो, यदि उसके साथ ही साथ ध्यान-धारणा, सदसद्विचार तथा अन्यान्य आध्यात्मिक साधनाओं का अनुष्ठान न हो, तो वह कर्म केवल प्राणहीन समाज-सेवा में ही स्थित रह जाता है। उच्च भाव और आदर्श से

रहित इस प्रकार के प्राणहीन और जड़ यन्त्र की तरह किये गये कर्म के द्वारा तो केवल बन्धन पर बन्धन ही आते हैं। जब हमारा हृदय निर्मल रहता है और जब वह अपने पूर्ण विकास का अवकाश पाता है, तभी हाथ वास्तविक लक्ष्य के उद्देश्य से कार्य कर सकता है। उसी प्रकार यदि केवल विवेचना और शास्त्र-चर्चा ही की जाय और उनके सिद्धान्तों के अनुसार कार्य न किया जाय, तो वह भी केवल असार मानसिक व्यायाम के रूप ही में रह जाती है। फिर इसी प्रकार यदि भक्ति, सदसद्विचार और कर्म से रहित हो तो वह भी व्यर्थ ही नहीं वरन् प्राय: हानिकर भी सिद्ध होती है। सत्य को जानना, अन्त:करण के सबसे गहरे प्रदेश में उसका अनुभव करना और जीवन की सब अवस्थाओं में, सब कार्यों में उसके प्रकाश की उपलब्धि करना ही सर्वोच्च ब्रह्मोपलब्धि है—वास्तव में वह उस एक ही अनुभूति के तीन प्रकार के भेद मात्र हैं। उनकी राय में वे ही आदर्श संन्यासी हैं, जो इच्छा करते ही गहरे ध्यान में मग्न हो रहें और पल भर बाद ही शास्त्र के जटिल अंशों की व्याख्या करने को तैयार हो जायँ; वे ही संन्यासी फिर पूरे उत्साह से बाग में काम करें और वहाँ के फल-मूल सिर पर लेकर बाज़ार में बेच आएँ।

मठ के कार्य किस प्रकार के होने चाहिये, इस विषय में भी स्वामीजी ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"विद्या के अभाव से धार्मिक सम्प्रदाय की अवस्था शोचनीय हो जाती है; अतएव विद्या की चर्चा सदा चलाई जानी चाहिये।

"त्याग और तपस्या के अभाव में विलासिता सम्प्रदाय को निगल जाती है: इसलिये त्याग और तपस्या के भाव को सदा उज्ज्वल रखना होगा।

"प्रचार-कार्य के कारण सम्प्रदाय की जीवन-शक्ति बलवती बनी रहती है; इसलिये कभी प्रचार-कार्य से विरत न होना चाहिये।"

वे फिर कहते हैं:—

"संकीर्ण समाज में धर्म की गम्भीरता और प्रबलता दिखाई देती है। कम चौड़े पाटवाली नदी तेज बहती है। ढीले विचार वाले सम्प्रदायों के भाव के विस्तार के साथ ही साथ उसकी गम्भीरता और वेग का ह्रास होता जाता है।

"पर आश्चर्य यह है कि समस्त ऐतिहासिक दृष्टान्तों के परे भगवान श्रीरामकृष्ण के शरीर में समुद्र की अपेक्षा भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत भावराशि का समावेश देखा जाता है।

"इससे प्रमाणित होता है, कि अत्यन्त विशालता, अति उदारता और महाप्रबलता एक साथ एकत्र हो सकती हैं और उसी प्रकार समाज भी संगठित हो सकता है, कारण व्यष्टि की समष्टि का नाम ही समाज है।"

निस्सन्देह श्रीरामकृष्ण की तरह विशाल और उदार-भावापन्न पुरुष संसार में दुर्लभ हैं। पर यदि मठ के साधुगण श्रीरामकृष्ण देव को अपना आदर्श बनाये रखें और अपनी अपनी विभिन्न प्रकृति के अनुसार अलग-अलग साधना-मार्गों का अवलम्बन करें तो भी उन्हें श्रीरामकृष्ण-संघ का अंग समझा जाय; हरएक को अपने व्यक्तिगत भाव-प्रकाश के लिये समान अधिकार दिया जाय तो यह कमी बहुत कुछ पूरी हो सकती है और मठ के अखण्ड तथा संघबद्ध भाव की बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। भले ही श्रीरामकृष्ण देव इस समय सशरीर विद्यमान न हों, परन्तु जब तक यह उदार भाव बना रहेगा

तब तक यह मठ अवश्य ही उनका सामीप्य अनुभव करता रहेगा। स्वामीजी ने और भी कहा है:—

"यह संघ ही उनका प्रत्यक्ष शरीर है और वे इस संघ में सदैव विद्यमान है। संघ एक-मत होकर जो आदेश देगा, वही गुरुदेव का आदेश समझा जायगा। जो संघ की पूजा करते हैं, वे भगवान की ही पूजा करते हैं और जो इसे नहीं मानते, वे उनकी भी अवमानता करते हैं।"

स्वामीजी यह भलीभाँति जानते थे कि इस प्रकार के उदार भाव की नींव पर प्रतिष्ठित संस्था में आपातत: विरोध होने की सम्भावना हो सकती है। मन के बेमेल होने से ही बाहरी विरोध तथा वैमनस्य हुआ करता है। ज्यों ज्यों भीतरी बेमेल बढ़ता जाता है, त्यों त्यों विरोध भी बढ़ता है। इसी कारण स्वामीजी ने उद्देश्य की एकता को ही संघ की अखण्डता का—एकता के बन्धन का—सब से प्रधान उपाय बताया है। मठ के समस्त साधुओं को स्वामीजी द्वारा बताये हुए इस उपाय पर बार बार विचार करना उचित है—तथा अपने व्यक्तिगत जीवन में उस पर अमल करके उसकी सार्थकता की उपलब्धि करनी चाहिये। स्वामीजी ने कहा है:—

"प्रेम, अध्यक्ष का आज्ञापालन, सहनशीलता और सर्वाङ्गीण पवित्रता ही भ्रातृवर्ग में एकता स्थापित रखने का एकमात्र उपाय है।"

वास्तव में यदि हम लोग स्वामीजी की आज्ञा पालन करने में प्राणों की बाजी लगाकर चेष्टा करें, तो हमारे मठों और मिशनों में किसी प्रकार की दलबन्दियों अथवा किसी प्रकार के विरोध होने की आशङ्का नहीं है।

इसके बाद देखा जाता है कि और और विषयों में प्रकृति उच्च होने पर भी मान और यश की आकांक्षारूपी दुर्बलता से पिण्ड छुड़ाना और भी कठिन है — बड़े बड़े लोग भी समय समय पर इसके प्रलोभन में पड़कर कर्तव्यच्युत होते देखे गये हैं। इस मान और यश की आकांक्षा से परस्पर एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या जाग उठती है — इसी से अन्त में संघ टूटकर नष्ट हो जाते हैं।

इसीलिये स्वामीजी कहते हैं:—

"हमारे परमहंस देव यश या मान के लिये नहीं आये थे। फिर हम उनके सेवक हैं, हमें भी मान की इच्छा न करनी चाहिये। केवल स्वयं पवित्र रहकर दूसरों को पवित्र होने की शिक्षा देना ही हमारा प्रधान उद्देश्य है। यही उनकी आज्ञा का पालन करना है।

"इस ठ के प्रत्येक साधु को यह सोचना उचित है कि वह जो कुछ भी कार्य करे, उससे श्रीभगवान की महिमा प्रकाशित हो! वह जहाँ भी जाय और जिस किसी भी अवस्था में रहे, यह याद रखे कि वह श्रीपरमहंस देव का प्रतिनिधि है; दूसरे लोग उसके ही अन्दर से उनके दर्शन करेंगे।

"यदि यह बात सदा स्मरण रखी जाय, तो पैर स्वयं ही कभी बेजगह बेराह में न बहकेगा।"

स्वामीजी के उपर्युक्त आदेश-पालन के लिये यदि प्राणपण से चेष्टा की जाय, तो मठ के विभिन्न अंगों — भिन्न-भिन्न आश्रमों और समितियों — के भीतर उद्देश्य की एकता स्थापित होगी और उसी से पारस्परिक सहानुभूति, सद्भाव और सहयोगिता वर्धित होगी। समग्र मानव जाति के भीतर विद्यमान रहनेवाली दुर्बलता और अवनति की

छाया को मिटा डालने के लिये जो महातरंग का चक्र बड़े वेग से दौड़ रहा है, उसके सिरे पर भगवान श्रीरामकृष्ण देव अवस्थित है। हमें सब अवस्थाओं में, सब कामों में उनके सर्वविरोध-समन्वयकारी, महामिलन-साधक, पूत-चरित्र का ध्यान कर काम में लग जाना उचित है।

मठ के समस्त अध्यक्षों और सेवकों के बीच प्रगाढ़ प्रीति का भाव रखना आवश्यक है; सेवकों को उचित है कि वे सदा अध्यक्षों का आदेश पालन करने के लिये सब तरह से तैयार रहें; उसी प्रकार अध्यक्ष भी हृदय के अन्दर अनुभव करें, कि हम अध्यक्ष नहीं हैं, हम इन सेवकों — इन कार्यकर्ताओं के भी सेवक हैं — आज्ञाकारी भृत्य हैं। अध्यक्ष के गुणों पर ही संघबद्ध संस्थाओं की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है। हमारा स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है, कि उसमें संघबद्ध भाव से कोई काम करने की शक्ति का पूर्णतया अभाव है। यही हमारी जातीय या राष्ट्रीय प्रकृति या स्वभाव की एक विशेषता हो गई है। परन्तु संघबद्ध भाव से कोई काम करके उसमें सफलता पाने की ताली है — सम्पूर्ण ईर्ष्याहीनता। अध्यक्षों और नेताओं को उचित है कि वे सदा अपने सहकारी और सहयोगी सेवक-भाइयों की राय लेकर उनके अनुसार अपनी कार्य-प्रणाली को नियमित करें और सदा सबसे हिल-मिलकर रहें।

स्वामीजी ने अध्यक्षों को लक्ष्य करके एक बार कहा था, "शासन करने कभी मत जाना। जो सबकी सेवा करने को सदा तैयार रहता है, वही शासन करने के योग्य होता है। 'सिरदार तब सरदार।' दूसरे का नियंत्रण करने, दूसरों पर शासन करने, — जिसे अमेरिकन लोग Bossing कहते हैं — कभी मत जाओ।

सब के सेवक बनो। तुम यदि नेता बनकर अपने को बहुत बड़ा नेता साबित करना चाहोगे तो कोई भी तुम्हारी सहायता को आगे नहीं बढ़ेगा। यदि किसी काम में सफल होना चाहते हो, तो पहले अपने 'अहं' भाव का विनाश कर डालो। कार्य की सफलता का एक और उपाय यह है कि एकाएक बहुत बड़े कार्य में हाथ मत डालो — धीरे-धीरे छोटे कामों से सूत्रपात्र करना चाहिये। जब देखो कि थोड़ी सी सफलता प्राप्त हुई, तब कुछ आगे और बढ़ो।" प्रत्येक सेवक को अध्यक्ष की आज्ञाओं का किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस विषय में स्वामीजी ने एक बड़े ही मार्के की, याद रखने योग्य बात कही है। "यदि अध्यक्ष कहे कि 'उस मगर को पकड़ो' तो पहले तुरन्त जाकर उसे पकड़ लो; फिर तर्क करो।" स्वामीजी ने बड़े ही खेद के साथ कहा था कि आजकल यदि भारत में कोई सबसे बड़ा पाप अपना प्रभुत्व फैलाये हुए है तो वह है — आज्ञा-पालन का अभाव। सभी शासन करना चाहते हैं, शासन मानने को कोई भी तैयार नहीं। इसका प्रधान कारण है हमारे यहाँ के पुराने ब्रह्मचर्य व्रत-पालन के नियमों का लोप हो जाना। पहले आज्ञा-कारिता सीखो। सदा आरम्भ में आज्ञाकारी भृत्य का काम करना सीखो, तभी तुम्हें आज्ञाकारी बनने का अधिकार प्राप्त होगा। सेवक को अपने जीवन तक की माया छोड़कर अध्यक्ष की आज्ञा पालन करने को तैयार रहना होगा।

इस विषय में स्वामीजी ने कहा है:—

"आज्ञाकारिता ही कर्मकारिता की ताली है। अतएव प्राणों का भय छोड़कर भी आज्ञा पालन करना होगा। समस्त दुःखों की

जड़ भय है। भय महापाप है। उसका सम्पूर्णतः त्याग करना होगा।"

मठ के अङ्गों और उसकी विभिन्न शाखाओं में पारस्परिक सहयोगिता की वृद्धि के लिये स्वामीजी और भी कई बहुत ही उत्तम बातें बता गये हैं:—

"दूसरों की निन्दा करना ही भ्रातृभाव में विच्छेद का मूल कारण है; अतएव किसी के प्रति ऐसा करना उचित नहीं। यदि किसी के विषय में कोई बात कहनी हो, तो वह केवल उसे ही एकान्त में समझाकर कहनी चाहिये।"

उनके सेवक या सेवक के सेवकों में कोई भी बुरा नहीं है। यदि कोई बुरा होता, तो यहाँ न आता। अतएव किसी को बुरा कहने के पहले 'मैं बुराई क्यों देखूँ?' यही सोचना उचित है। संघ में विच्छेद डालने की चेष्टा करनेवाले मठ के साधुओं को सावधान करते हुए स्वामीजी ने जो चेतावनी दी थी, वह आज भी हमारे कानों में गूँज रही है:—

"अभ्युत्थान और शक्ति-संग्रह का एकमात्र उपाय संघबद्ध होना है। अतएव जो कोई शरीर, मन और वाणी के द्वारा इस संघ में विच्छेद डालने की चेष्टा करेगा, उसके सिर पर समस्त संघ का अभिशाप पड़ेगा और वह इस लोक और परलोक दोनों से ही भ्रष्ट हो जायगा।"

अब एक और विषय का प्रसंग छेड़ना चाहते हैं। आजकल श्रीरामकृष्ण संघ के कार्य, रामकृष्ण मठ या आश्रम और रामकृष्ण मिशन—इन दो भागों में विभक्त होकर सम्पादित हो रहे हैं। इससे अनेक लोगों के मन में एक प्रकार का खटका-सा—भ्रम सा होता है।

मैं आज आप लोगों को बता देना चाहता हूँ कि मूलत: मठ और मिशन में कोई अन्तर नहीं है। काम के सुभीते के लिये ही इन दो भिन्न-भिन्न नामों या विभागों की रचना की गई है। साधारणत: अनेकों का यह विश्वास है कि मठ ध्यान-धारणा, अध्ययन-अध्यापन आदि का स्थान है तथा सेवा-कार्य मिशन के सुपुर्द है। कार्यत: ऐसा हुआ अवश्य है, पर इस विषय में बहुत सी भूलें साधारण लोगों में बनी हुई हैं — उन्हें दूर करना आवश्यक है।

अभी-अभी मैंने स्वामीजी द्वारा बताये गये मठ के आदर्श और कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं, उन्हें स्मरण करते ही आपकी समझ में आ जायगा कि उनकी राय में जिस प्रकार एक ओर भक्ति, पूजा, उपासना आदि है उसी प्रकार दूसरी ओर कर्म भी है; एक ओर जैसे ध्यान-धारणा, अध्ययन-अध्यापन को स्थान दिया गया है, वैसे ही समाज-सेवा के लिये भी स्थान है। पहले ही मैंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि स्वामीजी ने बेलुड़ मठ को एक सर्वाङ्गपूर्ण विश्व-विद्यालय बनाना चाहा था — उसमें धर्म और दर्शन-चर्चा के साथ ही साथ एक 'टेक्निकल इन्स्टीटयूट' बनाने की बात कही थी। उनके जीवित रहते इस संघ को मठ और मिशन — इन दो विभागों में विभक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई थी। अपने आदर्शों का कर्म-जीवन में प्रयोग करने के लिए पहली बार अमेरिका से लौटने के कुछ ही समय बाद सन् १८९७ ई० में पहली मई को श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के गृही और संन्यासी शिष्यों को लेकर स्वामीजी ने एक समिति स्थापित की; उद्देश्य था — समग्र मानव जाति के कल्याण के लिये सबसे मिलकर संघबद्ध रूप से

चेष्टा करना। उन्होंने उस समिति का नाम 'श्रीरामकृष्ण मिशन' रखा। क्रमशः उसकी उन्नति और कलेवर-वृद्धि होने लगी — शाखा-प्रशाखाएँ फैलने लगीं। अन्त में काम के सुभीते के विचार से सन् १९०९ ई० में सन् १८६० की २१ वीं धारा के अनुसार इस समिति की रजिस्ट्री कराई गई। उसी समय से केवल कानून की पाबन्दी के विचार से मठ और मिशन के बीच केवल नाम-मात्र का अन्तर रखा रहता है। वास्तव में सर्वसाधारण के सुभीते के लिये ही मठ के एक अंश-विशेष का नाम रामकृष्ण मिशन रखा गया है। श्रीरामकृष्ण संघ का प्रत्येक साधु — चाहे वह जिस किसी कार्य-क्षेत्र में रहकर ही काम क्यों न करता हो — स्वामीजी जिसे वास्तव में रामकृष्ण मठ समझते थे, उसी में संश्लिष्ट है। अतएव वर्तमान मठ और मिशन के कार्यों के बीच में कोई काल्पनिक बाँध खड़ा करने की चेष्टा करना स्वामीजी की इच्छा के पूर्ण विरुद्ध है; और इस प्रकार की धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। यह भी हमें ध्यान देना है कि जब तक वह धारणा हमारे मन से समूल नष्ट नहीं हो जाती, तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। मठ और मिशन के आदर्शों में पार्थक्य देखने की चेष्टा ही अन्याय और अनुचित है – उसमें बहुतेरी बुराइयाँ हैं। मठ के समस्त साधुओं के प्रति स्वामीजी का यही आदेश है, कि वे स्वतः अच्छे बनें और दूसरो को भी अच्छा बनने में सहायता करें; और मैंने पहले ही कहा है कि इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने के लिये ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म — इन चारों प्रकार के साधना-मार्गों का सम्मिलित भाव से अवलम्बन करना होगा — स्वामीजी ने यह उपदेश दिया था। हाँ, उन्होंने यह भी कहा है, कि इन चारों

में से जिस ओर साधक का सब से अधिक झुकाव हो, वह उसी को मुख्य मार्ग समझे। अतएव मठ और मिशन के आदर्श के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। राहु और उसका सिर वास्तव में एक ही वस्तु होने पर भी केवल दो शब्दों के कारण जिस प्रकार हमारे हृदय में पार्थक्य का भाव जगाते हैं, ठीक वैसी ही मठ और मिशन के बीच पार्थक्य ढूँढ़ निकालने की चेष्टा भी है। इस संघ के जो साधु सेवा-कार्य में नियुक्त हैं, वे संघ के उन साधुओं की अपेक्षा किसी तरह कम नहीं हैं, जो हिमालय की कन्दराओं में रहकर घोर तपस्या करते हैं। जो लोग कुछ काल के लिए कर्मजीवन से पूर्णतया छुट्टी लेकर ध्यान-धारणा और स्वाध्याय आदि में नियुक्त रहकर अपने आपको कर्मजीवन के और भी योग्य बना लेने की चेष्टा करते हैं, उन्हें भी हम लोग संघ के बहुत ही मूल्यवान अंग समझते हैं— संघ की उन्नति और उसकी जीवन-शक्ति को अटूट बनाये रखने के लिये इस प्रकार के सर्व-कर्मत्यागी साधकों की भी विशेष आवश्यकता है। यह मठ क्या है—मानो सुन्दर फूलों का एक गुच्छा है—वह ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म-रूपी विविध रंगों के सुगन्धित पुष्पों का बना हुआ है—इन भिन्न-भिन्न रङ्गों के समवाय से ही उसका श्री-सौन्दर्य इतना बढ़ा-चढ़ा है।

भाइयो, आप लोगों से जो कुछ कहना था, वह कह चुका। हे श्रीरामकृष्ण की सन्तानगण, मेरी जो सामान्य अभिज्ञता है, उसके सहारे मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि जब तक यह संघ भगवद्भावों से अनुप्राणित रहेगा, तभी तक यह टिका रह सकेगा। प्रीति, उदारता, पवित्रता और निःस्वार्थता ही हमारे संघ की नींव हैं। यदि

इसकी ठठरी के भीतर स्वार्थपरता घुस जाय, तो फिर मनुष्य के कितने भी प्रयत्नों से इसकी रक्षा नहीं हो सकती। यह मठ आप को उस महान् आदर्श में पूर्णता प्राप्त करने के लिये सब तरह के सुभीते दे रहा है और देने को सदा तैयार है। यदि आप सभी लोग सम्पूर्ण रूप से मठ के आधीन रहकर उस पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्राणों की बाजी लगाकर तुल जायँ तभी हमारे इस संघ के स्थायी और दीर्घायु होने में सहायता मिलेगी। स्वामीजी इस मठ के लिये अपने हृदय का रक्त दे गये हैं। उनकी आत्मा आज भी यहाँ विद्यमान हैं। यह श्रीरामकृष्ण देव की स्थूल देह है। जो महात्मागण हमसे पहले ही इस लोक को छोड़कर चले गये हैं, वे भी अपने सूक्ष्म शरीरों में यहाँ उपस्थित रहकर हर समय हमारी सहायता करने को तैयार हैं। अब हमें एक साथ ही सब पाल उड़ा देना उचित है। श्रीभगवान की कृपावायु बह रही है—पाल उड़ाते ही उस कृपावायु के सहारे हमारी नैया अपने अभीष्ट स्थान पर बहुत शीघ्र पहुँच जायगी।

धर्म की साधना ही भारत का महान् जीवनव्रत है। यदि संसार को देने के लिये हमारे पास कोई धन है, तो वह यही धर्मरूपी धन है। न जाने किस स्मरणातीत काल से इसी भूमि में आध्यात्मिक भावों की बयार उठी है और सारे संसार की सभ्यता की गति को नियमित करती रही है। हमारी उस अभागी जाति पर पिछली दस सदियों से दुर्दैव की प्रेरणा से न जाने कितनी आँधिया आईं और चली गईं, पर यह अब भी जीवित है। इसका कारण केवल यही है, कि धर्म ही हमारे जीवन का मेरुदण्ड-स्वरूप है। हम अपने व्यक्तिगत अथवा समाजगत जीवन में भले ही भिन्न-भिन्न

आदर्श और कार्य लिये फिरते हों—पर श्रीभगवान ही हमारे सब कार्यों के मध्यबिंदु-स्वरूप हैं। यहाँ सच्चा महत्त्व धर्म के ही तराजू पर तौला जाता है। भगवान ने गीता में अपने अवतरण के विषय में कहा है कि जब कभी भी धर्म का ह्रास और अधर्म की बढ़ती होती है, तभी मेरा आविर्भाव होता है। उन्होंने इस प्रकार जिस अव्यर्थ नियम पर सकेत किया है, उसी नियमानुसार इस युग में श्रीभगवान धर्म के लुप्त आदर्श का पुनरुद्धार करने के लिये पुनः आविर्भूत हुए हैं। उनके पहले भी सैकड़ों अवतार और युगाचार्यगण अँधेरे में प्रकाश दिखाने के लिये, जातीय जडता दूर करने के लिये तथा हमें ऊपर उठाने के लिये आये थे। पर इस वर्तमान युग में जैसी घोर अँधियारी रही है, उसकी अपेक्षा पिछले युगों का अन्धकार—जिसे दूर करने के लिये पहले अवतारों के आने की आवश्यकता हुई थी—नहीं के बराबर था। उसे एक प्रकार आलोक ही कह सकते हैं। स्वामीजी ने, बेलुड़ मठ की स्थापना के कुछ ही पहले "हिन्दू धर्म क्या है?" नाम की एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने लिखा है:—

"परन्तु वर्तमान युग की इस गहरी अमावस्या की रात्रि की तरह, जो बहुत ही अल्प समय के लिये ठहरी और जो लगभग बीत चुकी है, पिछली किसी भी अँधेरी रात ने इस पुण्य-भूमि को आच्छादित नहीं किया था। इस पतन की गहराई की अपेक्षा पूर्व के सब पतन गोपद-से छिछले थे।"

इसीलिये कहता हूँ कि हमें तथा समग्र जगत् को तमोमयी जडशक्ति के बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए श्रीभगवान ने अपनी अपार करुणा के वशवर्ती हो, पुनः पूर्णावतार ग्रहण किया है।

पहली बार अमेरिका से लौटने के बाद सन् १८९७ ई० के आरम्भ में कलकत्ते की जनता ने स्वामाजी को जो अभिनन्दन-पत्र अर्पण किया था, उसका उत्तर देते हुए उन्होंने अपने श्रीगुरुदेव को लक्ष्य करके कहा था:—

"हम लोग संसार के इतिहास में सैकड़ों महापुरुषों की जीवनियाँ पाठ करते हैं। अब हम लोग जिस रूप में वे जीवनियाँ पाते हैं, उसमें उन महापुरुषों के शिष्य-प्रशिष्य द्वारा किये गये कितने ही परिवर्तनों और परिवर्धनों का परिचय पाया जाता है। हजारों वर्ष से उन महापुरुषों की जीवनियाँ घिस-माँज और काटछाँट कर चिकनी बनाई गई हैं; परन्तु जिस जीवन को मैंने अपनी आँखों से देखा है, जिसकी छाया में मैंने वास किया है, जिनके पैरों तले बैठ मैंने सब कुछ सीखा है, उन श्रीरामकृष्ण परमहंस के सदृश उज्ज्वल और महिमान्वित जीवन मेरी राय में और किसी भी महापुरुष का नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण देव के आविर्भाव से संसार में धर्म का जो भारी प्रवाह आया है, समाज के ऊपर उसके आने के पहले समाज में सर्वत्र छोटी-छोटी बावड़ियाँ दिखाई देती थीं। जब वह भारी बाढ़ आ रही थी, तब किसी की दृष्टि उस पर नहीं पड़ी थी, किसी ने भली भाँति उसे देखा नहीं था, उसकी गूढ़ शक्ति के विषय में किसी ने भी सोचा नहीं था—क्रमश: वह जरा जरा करके बढ़ने लगी—होते-होते वह अन्य सब छोटे-छोटे जलाशयों को मानो निगल गई—अपने में मिलाकर अपना कलेवर बढ़ा लिया। इस प्रकार बहुत ही विशाल आकार और बड़ी भारी बाढ़ का रूप धारणकर समाज के ऊपर इतने जोर से गिरी कि उसकी गति को कोई रोक न सका।

वही श्रीरामकृष्ण परमहंस, वही विराट पुरुष — जिनकी बराबरी के दूसरे महापुरुष को संसार ने कभी नहीं देखा है — आप के पीछे खड़े हैं। हमारे पूर्वपुरुषों ने कितने ही महान् कार्य किये हैं—आप लोगों को उनसे भी बड़े कार्य करने होंगे। हममें से प्रत्येक मनुष्य को विश्वास करना होगा कि संसार के सब लोग अपना अपना कर्तव्य कर चुके हैं — अब संसार की पूर्णता के लिये जितना कार्य शेष रह गया है, उतना मुझे ही करना होगा। यह भार हमें अपने कन्धों पर लेना ही होगा।

प्राचीन बौद्ध मठों ने संघबद्ध होकर संसार का कल्याण-साधन करने की सर्वान्तःकरण से चेष्टा की थी–उन्होंने अपने अभीष्ट की सिद्धि में बहुत कुछ सफलता भी पाई थी। जिस समय से इतिहास लिखने की प्रथा आरम्भ हुई है, उसी युग से यह देखने में आता है, कि बौद्ध संन्यासियों ने अपनी संघशक्ति के सहारे मनुष्य का वहाँ तक कल्याण किया था, जहाँ तक सम्भव है। यदि वर्तमान कई एक प्रधान धर्म-सम्प्रदायों और दर्शनशास्त्रों से अज्ञात इतिहास कभी लिखा जाय, तभी दुनिया यह जान सकेगी कि इन निर्भीक बौद्ध भिक्षुओं ने मठों की उन्नति और परिपुष्टि के लिये कितनी बड़ी सहायता की थी। जब तक इन बौद्ध मठों में श्री बुद्ध देव के समय का आदर्श, पवित्रता और त्याग का भाव अक्षुण्ण रहा, तब तक बौद्ध भिक्षुगण जहाँ कहीं भी गये हैं, वहीं उनके प्रभाव की गति अबाधित रूप से बहती रही, परन्तु जब उनमें से वह त्याग का भाव घटने लगा, उनकी पवित्रता का ह्रास हो चला, तभी से श्री बुद्ध देव के धर्म में अवनति के लक्षण प्रकट होने लगे। इतिहास से हमें

यह पहली शिक्षा लेनी होगी। दूसरी बात सीखने योग्य यह है, कि भारत में बुद्ध देव के बाद भी समय-समय पर किसी-किसी व्यक्ति-विशेष ने आध्यात्मिक उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचकर सिद्धावस्था प्राप्त की है; पर उन्होंने आस-पास के लोगों के लिये कभी सोचने का यत्न नहीं किया। उन्होंने स्वयं एक महान् आदर्श प्राप्त कर लिया था, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु उनके द्वारा प्राप्त किये गये उस आदर्श को सामाजिक जीवन पर प्रतिफलित होने का उचित आधार न मिलने के कारण, उस व्यक्तिविशेष के अन्तर्धान होने के कुछ ही उपरान्त वह भी विलुप्त हो गया। इतिहास से हमें यह दूसरी शिक्षा भी ग्रहण करनी होगी। फिर पिछली कई सदियों के अन्दर हमारे इस देश में अनेक मठों और आश्रमों की स्थापना हुई है। यद्यपि उन मठों और आश्रमों ने थोड़े से आदमियों को उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति में सहायता कर उनका उपकार किया है, तथापि वे मठ और आश्रम समग्र मानव-जाति का कोई कल्याण करने में समर्थ नहीं हुए हैं। कारण, समग्र मानव-समाज की सेवा को उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना-प्रणाली में सम्मिलित नहीं किया था। इतिहास हमें यह तीसरी शिक्षा देता है।

स्वामीजी ने, अपने इस मठ का आदर्श निश्चित करने के पहले इन शिक्षाओं का भलीभाँति मनन किया था। इसके बाद वे 'आत्मनो मोक्षाय जगद्धिताय च'—अपनी आत्मा की मुक्ति और संसार के कल्याण-साधनरूपी सर्वोच्च आदर्श के लिये जीवन लगाना, यही हमें बता गये हैं।

श्रीरामकृष्ण की सन्तानो! आप सभी लोग सर्वान्तःकरण से

उच्च आदर्श के साँचे में अपना जीवन ढालने की चेष्टा कर रहे हैं। आप लोगों में से प्रत्येक पर मेरा अटूट विश्वास है। आप इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने के लिये, अपने व्यक्तिगत सुख-स्वच्छन्दता के प्रलोभन को — चाहे वह कितना ही बलवान क्यों न हो — अपने मन से हटाने की चेष्टा में तनिक भी कमी नहीं कर रहे हैं; और मैं अपने दिव्य नेत्रों से देख रहा हूँ, कि भगवान श्रीरामकृष्ण जो हमारे जीवन की ज्योति और पथ-प्रदर्शक हैं — आपके पीछे-पीछे रहकर आपके भीतर से कार्य कर रहे हैं। आप लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसके पीछे उनका मङ्गलमय हाथ लगा हुआ है। यह केवल उन्हीं की कृपा है कि इतने अल्प समय में आप के कार्य में इतनी सफलता प्राप्त हुई है। जब तक आप लोगों का उन पर विश्वास रहेगा, जब तक आप लोग अपने आपको उनके हाथों का यन्त्र-स्वरूप समझते रहेंगे, तब तक संसार की कोई भी शक्ति – चाहे वह कितनी भी प्रबल क्यों न हो – आपको अपने स्थान से तनिक भी डिगा न सकेगी। हममें से प्रत्येक व्यक्ति परम पिता पर दृढ़ विश्वास रखकर यह कह सकता है, "मैं अपने भाव पर दृढ़ रह, अपने निर्दिष्ट स्थान पर मजबूती के साथ खड़े होकर संसार को हिलाऊँगा। — उसमें जागृति पैदा करूँगा।" मैं सर्वान्तःकरण से तथा दृढ़ता के साथ आपसे कहता हूँ, कि सामयिक असिद्धि से आप कभी विचलित या हतोत्साहित न होवें। बार-बार की असफलता को अपने लक्ष्य पर पहुँचानेवाला सोपान समझें। सिद्धि और असिद्धि दोनों में ही समान भाव से रहकर उनमें विश्वास रखते हुये कार्य करते रहिये – आपकी जय अवश्यम्भावी है – पूर्ण निश्चित है। मेरी प्रार्थना

सदा यही है कि आप लोग उन पर निर्भरशील बने रहें। धनुष्य पर से छोड़े गये तीर की तरह, निहाई पर पटके गये हथौड़े की तरह, लक्ष्य पर चलाई गई तलवार की तरह आप अचूक सन्धान बनिये। तीर यदि निश्चित लक्ष्य पर नहीं पहुँचता, तो वह असन्तुष्ट नहीं होता; हथौड़ा यदि निश्चित स्थान पर नहीं पड़ता तो वह अप्रसन्न नहीं होता; तलवार भी यदि लड़ाके के हाथ से टूट जाय तो वह अपने लिये विलाप नहीं करती, परन्तु बनने, व्यवहार में आने और टूटने के समय एक प्रकार का आनन्द होता है — फिर जब उनका काम समाप्त हो जाता है और जब वे पड़े रहते हैं, तब भी वही आनन्द रहता है।

मैं आप सब लोगों के लिये भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के आशीर्वाद की इच्छा करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वे आप को इसी जीवन में सत्य की उपलब्धि के लिये उचित बल और साहस प्रदान करें।

इस महासम्मेलन में प्रेम और शुभेच्छा का स्रोत बहता रहे, यही मेरी कामना है। अन्त में मैं अब भारत के प्राचीन महर्षिगण द्वारा उच्चारित वेदवाणी की प्रतिध्वनि के साथ अपने वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ:—

मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वी र्नः सन्तु ओषधीः॥
मधु नक्तम् उतोषसी।
मधुमत् पार्थिवं रजः॥
मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान् नो वनस्पतिः॥

मधुमान् अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥
ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु ।

मधुमय होकर बहे सदा यह सुन्दर सुखद समीर ।
मधुमय बने बहै धरणी पर शीतल सरिता-नीर ॥
औषधियाँ सब मधुमय होवें, हरें दुःखद जन-पीर ।
रैन-दिवस मधुमय हो जावें, मधुमय हो रवि धीर ॥
भूतल के कण-कण में छाये मधुमय स्वर गंभीर ।
पूर्ण वनस्पति मधुमय होवें, हरें हमारी पीर ॥
गायें, अपना मधु बरसावें, सदा हमारे तीर ।
मधु से पूर्ण चराचर होवें, मधुमय जगत्-शरीर ॥
ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु । *

१०७५

॥ समाप्त ॥

* १९२६ ई० में रामकृष्ण मिशन के संन्यासी-सम्मेलन में सभापति के पद से दिया हुआ अभिभाषण ।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में-अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)— —सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. परमार्थ-प्रसंग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में — (वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द ५)
१०. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
११. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१३. देववाणी (प्र. सं.) २=)
१४. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १॥=)
१५. कर्मयोग (द्वि. सं.) १॥=)
१६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१७. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
१८. भक्तियोग (तृ. सं.) १।=)
१९. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)
२०. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२१. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२२. महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि. सं.) १।)
२३. राजयोग (प्र. सं.) १=)
२४. स्वाधीन भारत! जय हो! (प्र. सं.) १=)
२५. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
२६. भारतीय नारी (द्वि. सं.) ॥।)

२७. शिक्षा (द्वि. सं.) ।।=)
२८. शिकागो-वक्तृता (ष. सं.) ।।=)
२९. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।=)
३०. मेरे गुरुदेव (च. सं.) ।।=)
३१. कवितावली (प्र. सं.) ।।=)
३२. शक्तिदायी विचार (द्वि. सं.) ।।=)
३३. वर्तमान भारत (तृ. सं.) ।।)
३४. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
३५. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ।।)
३६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
३७. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ।।)
३८. सरल राजयोग (प्र. सं.) ।।)
३९. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≋)
४०. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।=)
४१. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) १।=)
४२. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) ।।)
४३. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ।।=)
४४. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार —स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) ।=)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र — प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।=
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत (पहिली आवृत्ति) ५।।)
४. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा — (तिसरी आवृत्ति) ।।=
५. कर्मयोग — (पहिली आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद १।।=
६. शिकागो-व्याख्यानें — (दुसरी आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद ।।=
७. माझे गुरुदेव — (दुसरी आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद ।।=
८. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण — (पहिली आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद ।।-
९. शिक्षण — (पहिली आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद ।।-
१०. पवहारी बाबा — (पहिली आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद ।।
११. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य) — (दुसरी आवृत्ति) २ रु.

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १, म. प्र.